

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182323

UNIVERSAL
LIBRARY

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—४

संपादक—चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०

बुद्ध-चरित

(काव्य)

सर एडविन आर्नल्ड के 'लाइट आफ
एशिया' के आधार पर

रामचंद्र शुक्ल कृत



प्रकाशक

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

संवत् १९६५]

[मूल्य २।।]

Printed by A. Bose,
at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) की चाँपावत-जी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिन्तकों के लिए तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख

वे मेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीराम-सिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आशानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुन्दर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैतवेदान्त, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापन बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपये श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिए विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबन्धों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों का ज्ञान-लाभ।

श्रीचंद्रधर शर्मा

वक्तव्य

रामकृष्ण की इसी लीलाभूमि पर भगवान् बुद्धदेव भी हुए हैं जिनके प्रभाव से एशियाखंड का सारा पूर्वार्द्ध भारत को इस गिरी दशा में भी प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता चला जा रहा है। रामकृष्ण के चरितगान का मधुर स्वर भारत की सारी भाषाओं में गूँज रहा है पर बौद्ध धर्म के साथ ही गौतम बुद्ध की स्मृति तक जनता के हृदय से दूर हो गई है। 'भरथरी' और गोपीचंद के जोगी होने के गीत गाकर आज भी कुछ रमते जोगी स्त्रियों को करुणार्द्र करके अपना पेट पालते चले जाते हैं पर कुमार सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की सुध दिलानेवाली वाणी कहीं नहीं सुनाई पड़ती है। जिन बातों से हमारा गौरव था उन्हें भूलते भूलते आज हमारी यह दशा हुई।

यह 'बुद्ध-चरित' अँगरेजी के Light of Asia का हिंदी काव्य के रूप में अवतरण है। यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिंदी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य वर्णन जहाँ अयुक्त या अप-

र्याप्त प्रतीत हुए वहाँ बहुत कुछ फेरफार करना या बढ़ाना भी पड़ा है। अँगरेजी अलंकार जो हिन्दी में आनेवाले नहीं थे वे खोल दिए गए हैं; जैसे मूल में यह वाक्य था—

.....Where the Teacher spake

Wisdom and power,

इसमें Hendiadys नामक अलंकार था जिसमें किसी संज्ञा का गुणवाचक शब्द उसके आगे एक संयोजक शब्द डालकर संज्ञा बनाकर रख दिया जाता है—जैसे, ज्ञान और ओज = ओजःपूर्ण ज्ञान। उक्त वाक्य हिंदी में इस प्रकार किया गया है—“ओजपूर्ण अपूर्व भाख्यो ज्ञान श्रीभगवान्।” तात्पर्य यह कि मूल के भावों का भी पूरा ध्यान रखा गया है। शब्द बौद्ध शास्त्रों में व्यवहृत रखे गए हैं। उनकी व्याख्या भी फुटनोट में कर दी गई है। कुछ चित्र भी दिए गए हैं जो काशी के कुशल चित्रकार श्रीयुत केदारनाथ द्वारा अंकित हैं। यदि काव्य-परंपरा के प्रेमियों का कुछ भी मनोरंजन होगा तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

जिस वाणी में कई करोड़ हिंदीभाषी रामकृष्ण के मधुर चरित का स्मरण करते आ रहे हैं उसी वाणी में भगवान् बुद्ध को स्मरण कराने का यह लघु प्रयत्न है। यद्यपि यह वाणी ब्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध है पर वास्तव में अपने संस्कृत रूप में यह सारे उत्तरापथ की काव्यभाषा रही है और है।

काव्यभाषा

प्राकृत-काल

प्राचीन आर्यभाषा की भिन्न भिन्न स्थानों की बोलियों को थोड़ा बहुत समेटकर, पर पश्चिमोत्तर की 'भाषा' का ढाँचा आधारवत् रखकर, जिस प्रकार संस्कृत खड़ी हुई उसी प्रकार पीछे से यह काव्यभाषा भी पछाहँ की बोली (व्रज से लेकर मारवाड़ और गुजरात तक की) का आधार रखकर, और और बोलियों को भी थोड़ा बहुत समेटती हुई, चली और बहुत दिनों तक केवल अपभ्रंश या भाषा ही कहलाती रही। काव्यभाषा में पच्छिमी बोली की प्रधानता का कारण यह है कि कविता राजाश्रय पाकर हुआ करती थी और इधर हज़ार बारह सौ वर्ष से राजपूतों की बड़ी बड़ी राजधानियाँ राज-पूताने, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि में ही रहीं। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है वह पछाहीं भाषा है जिसका व्यवहार व्रजमंडल से लेकर राज-पूताने और गुजरात तक था। इस बात को उन्होंने "शेष शौरसेनीवत्" कहकर स्पष्ट कर दिया है। अपभ्रंश के जो दोहे उन्होंने दिए हैं वे पछाहीं भाषा के हैं। प्रबंधचिंतामणि

और कुमारपाल प्रतिबोध आदि ग्रंथों में भी जो पद्य हैं उनका ढाँचा पच्छिमी हिंदी का है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) अम्मणिओ **संदेसडुओ** तारय कन्ह कहिज्ज ।

जग दालिदिहि **डुब्बिउ** बलिबंधणह मुहिज्ज ।

(२) जेह आसावरि देहा **दिन्हउ** । सुस्थिर डाहररज्जा **लिन्हउ**

(३) सउचित्त हरिसट्ठी मम्मणह बत्तीस **डीहियाँ**

हियम्मि ते नर दड्ढ सीभे जे बीससइ **थियाँ** ।

(४) जइ यह रावण **जाइयउ** दहमुह इकु सरीर ।

जणणि वियंभी चित्तवइ कवणु पियावउँ खीर ।

(५) **उड्डावियउ** वराउ ।

(६) माणुसडा दस दस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध ।

मह कंतह **इक्कज** दसा अवरि ते चोरिहि लिद्ध ।

(१) हमारा संदेसा तारक (तारनेवाले) कान्ह को कहना । जगत् दारिद्र्य में डूबा है, बलि के बंधन को छोड़ दीजिए ।

(२) जिसने आसावरि देश दिया, सुस्थिर डाहर राज्य लिया ।

(३) सब चित्तों को हरने के लिये काम की बातों में दक्ष स्त्रियों पर जो विश्वास करते हैं वे नर हृदय में बहुत सीभते (संताप सहते) हैं ।

(४) जब यह दस मुँह और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ, (तब) माता अचंभे में आई हुई सोचती है कि किसको दूध पिलाऊँ ।

(५) उड़ा दिया (गया) बेचारा ।

(६) मनुष्य की दस दशाएँ लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं, (पर) मेरे कंत की एक ही दशा (दारिद्र्य) है और जो थीं वे चोरों ने हर लीं ।

- (७) राणा सब्बे वाणिया जेसलु बड्डुउ सेठि ।
 (८) एहुँ जाणेवउँ जइ मणसि तो जिण आगम जोइ ।
 (९) एकला आइबो, एकला जाइबो हाथ पग वे भाड़ी ।
 (१०) भाली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छार पुंज ।

हिंडइ दोरी बंधीअउ जिम मक्कड़ तिम मुंज ।

इन पद्यों में हम व्रजभाषा के भूतकाल और पुं० कर्त्ता और कर्मकारक के रूपों के बीज पाते हैं जैसे संदेसडओ (आधुनिक संदेसड़ो); बड्डुउ (= बड्डो = बड़ो); दिन्हउ, लिन्हउ (= दीन्हो, लीन्हो); डुब्बिउ (= डूब्यो); जाइयउ (= जायो); उड्डावियउ (= गुजराती उड़ावियो = व्रज० उड़ायो); हुयउ (= हुआ); बँधीअ.उ (= बँध्यो)। क्रिया के पुरुषकाल-वर्जित साधारण रूप 'जाणेवउँ' (पुराना), 'आइबो', 'जाइबो' भी मौजूद हैं। संज्ञा के बहुवचन रूप भी हैं जो अवधी आदि पूरबी भाषाओं में बिना कारकचिह्न लगे नहीं होते जैसे, 'डीहियाँ थियाँ' = बड़ी चढ़ी स्त्रियाँ। स्त्रीलिंग विशेषणों में भी विशेष्य बहुवचन के अनुसार विशेषण का बहुवचन रूप होना अभी थोड़े दिनों पहले था और वली आदि उर्दू के पुराने शायरों में क्या

- (७) सब राणा बनिये हैं, जैसल बड़ा सेठ है ।
 (८) यह जानना यदि मन में है तो जिनागम देख ।
 (९) अकेले आना, अकेले जाना दोनों हाथ पैर भाड़ कर ।
 (१०) जल कर या टूट कर क्यों न मरा, राख क्यों न हो गया ?
 जैसे बंदर वैसे मुंज डोरी में बँधा घूमता है ।

इंशा की 'ठेठ हिंदी की कहानी' तक में बराबर मिलता है। इक्कज (= एक ही) तो शुद्ध मारवाड़ी और गुजराती है।

काव्य की यह भाषा बहुत प्राचीन काल में बन चुकी थी। यही हिंदी की काव्यभाषा का पूर्वरूप है। ढाँचा पच्छिमी होने पर भी यह काव्य की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था। इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्राकृतों के समान इसमें देशभेद करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्राकृत व्याकरणों में जिसका उल्लेख अपभ्रंश के नाम से हुआ है काव्यभाषा के रूप में उसका प्रचार व्रज, मारवाड़ और गुजरात तक ही नहीं था एक प्रकार से सारे उत्तरीय भारत में था। इस व्यापकत्व के लिए यह आवश्यक था कि उसमें अवध आदि मध्यदेश के शब्द और रूप भी कुछ मिलें। जिन स्थानों में ऊपर दिए हुए उदाहरण हैं उन्हीं में ऐसे रूपांतरों के भी उदाहरण हैं जो अवधी और खड़ी बोली का आभास देते हैं।

(११) नव जल भरिया मगड़ा गयणि धड़कइ मेहु

इत्थंतरि जरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु ।

(१२) कसुकर रे पुत्त कलत्त धी, कसुकर रे करसण बाड़ी ?

(१३) सइ, सउ खंगारिहि प्राणकइ बइसानर होमीइ ।

(११) नए जल से भरा हुआ रास्ता, गगन में मेघ धड़कता है ।
इस अंतर में जो (तू) आया तो तेरा नेह जाना जायगा ।

(१२) किसका रे पुत्र कलत्र और कन्या, किसकी रे खेती बारी ?

(१३) (मैं) सती खेगार के साथ प्राण को वैश्वानर में होमती हूँ ।

- (१४) महिवीढह सचराचरह जिण सिर **दिन्हा** पाय ।
 (१५) अड़विहि पत्ती नइहि जलु तो वि न **बूहा** हत्थ ।
 (१६) एक्के दुन्नय जे **कया** तेहि नीहरिय घरस्स ।
 (१७) कुलु कलंकिउ, मलिउ माहप्पु, मलिणीकय
 सयणमुह । **दिन्न** हत्थु नियगुण कडप्पह जगु उम्पियो
 अवजसिण ।
 (१८) भुवणि वसंत **पयट्ट** ।
 (१९) मह सग्गयस्स वि पिट्ठि **लग्ग** ।
 (२०) भल्ला हुआ जु **मारिआ** वहिणि महारा कंतु ।

ऊपर के अवतरणों के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—
 क्रिया के भूतकालिक रूप—‘भरिया’ (खड़ी बोली और

- (१४) पृथ्वी की पीठ पर जिसने सचराचर के सिर पर पौंव दिया ।
 (१५) अटवी (= जंगल) की पत्ती, नदी का जल (था) तो भी
 हाथ न हिलाया ।
 (१६) एक दुर्नय (अनीति) जो किया उससे निकली घर से ।
 (१७) कुल कलंकित किया, माहात्म्य मल दिया, सज्जनों का मुँह
 मलिन किया, अपने गुण कलाप को हाथ दिया (धक्का देकर निकाल
 दिया), जगत् ढाक दिया अपयरा से ।
 (१८) भुवन में वसंत पैठा ।
 (१९) मुक्त स्वर्ग गए की भी पीठ लगे ।
 (२०) भला हुआ जो मारा गया, बहिन, हमारा कंत ।
 * यहाँ तक अपभ्रंश के ये उदाहरण न० २ को छोड़कर नागरी-
 प्रचारिणीपत्रिका में प्रकाशित श्रीयुत पंडित चंद्रधरजी गुलेरी, बी० ए०,
 के ‘पुरानी हिंदी’ नामक लेख से लिए गए हैं ।

पंजाबी का पुराना रूप, जैसे, टपका लगा फूटिया कछु नहिं आया हाथ—कबीर । आधु० पंजाबी भर्या, खड़ी और अवधी भरा) ‘दिन्हा’ = दिया, बूहा = हिलाया, व्यूहित किया, कया = किया (खड़ी और अवधी के रूप) । दिन्नु = दिया (अवधी ‘दीन’ का पूर्व रूप); पयटूठु = पैठा (अवधी ‘पैठ’); ‘लग्ग’ = लगा (अवधी ‘लाग’ का पूर्व रूप) । संबंधकारक सर्वनाम ‘कसु करु’ = (खड़ी० किस का; अवधी केहि कर) । कर्मचिह्न—‘प्राणकइ’ (अवधी ‘प्राण के’ = प्राण को) ।

ये उदाहरण विक्रम की १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दी में बने ग्रंथों से लिए गए हैं पर इनमें से अधिकतर संगृहीत हैं और संग्रहकाल से बहुत पहले के हैं । कुछ तो मुंज और भोज के समय (सं० १०३६) के हैं । इस प्रकार हिन्दी की काव्यभाषा के पूर्व रूप का पता विक्रम की ११वीं शताब्दी से लगता है । जैसा पहले कहा जा चुका है यद्यपि इस भाषा का ढाँचा पच्छिमी (ब्रज का सा) था पर यह साहित्य की एक व्यापक भाषा हो गई थी । इस व्यापकता के कारण और प्रदेशों के शब्द और रूप भी इसके भीतर आ गए थे । ऊपर उद्धृत कविताएँ टकसाली भाषा की हैं और प्रायः पछाहँ के चारणों और कवियों की रची हैं इससे उनमें पंजाबी और अवधी ही तक के रूप मिलते हैं । पर ‘प्राकृत पिंगलसूत्र’ में और पीछे के काल तक की (हम्मीर के समय तक की) तथा और पूरबी प्रदेशों की कविताओं के नमूने भी

हैं। नीचे दिए हुए पद्यों में अलग अलग बोलियों के नमूने चुनिए—

(१) कोहे **चलिअ** हम्मीर बीर गअजुह संजुत्ते ।

किअउ कट्ट हाकंद मुच्छि^१ मेच्छिअ^२ के पुत्ते ।

(२) चंचल जुवण जात ए जाणहि छइल्ल समप्पइ **काइँ** एही ?

(३) कासीसर राणा **किअउ पआणा** विज्जाहर^३ भण मंतिवरे ।

(४) ढोल्ला^४ **मारिअ** ढिल्लि^५ **महँ** मुच्छिव^६ मेच्छ सरीर ।

(५) हमिर बीर जब रण **चलिआ** । तुरअ तुरअहि
जुजिभया । अप्प पर एहि **बुजिभया** ।

(६) विणास करू । गिरि हत्थ धरू ।

(७) तुम्हाण, अम्हाण । चंडेसो, रक्खे सो । गोरी रक्खो ।

(८) भवाणी **हसंती** । दुरित्तं **हरंती** ।

(९) सो हर **तोहर** । संकट संहर ।

(१०) पसण **होउ** चंडिआ ।

(११) सरस्सई^७ पसण **हो** ।

(१२) वित्तक **पूरल** मुंदहरा^८ । बरिसा समआ सुक्खकरा ।

(१३) अहि ललइ, महि चलइ **मुअल** जिवि उट्टए ।

(१४) राजा जहा लुद्ध । पंडीअ^९ **हो** मुद्ध ।

(१५) जे जे सेता वण्णीआ, **तुम्हा** कित्ती जिएणीआ ।

(१) मूर्च्छित होकर । (२) म्लेच्छों । (३) विद्याधर । (४) ढोल, डंका । (५) दिल्ली । (६) मूर्च्छितों = मूर्च्छित हुआ । (७) सरस्वती । (८) मुंदहरा = मुँडगृह = मुँडैरा । (९) पंडित ।

- (१६) **चल** कमल-गण्धिआ । खलइ थण-वसणिआ ।
 (१७) मण मज्झ बम्मह^१ **ताव** । एहु कंत अज्जु वि **आव** ।
 (१८) एच्चे बिज्जू पिय सहिआ । **आवे** कंता, सहि, **कहिआ ?**
 (१९) सोउ जुहिठिठर संकट **पाआ** । देवक लेखिअ केण
मिटाआ ।
 (२०) **गज्जउ** मेह कि अंबर सामर । **फुल्लउ** णीव,^२ कि
बुल्लउ भम्मर । एक्कउ जीअ पराहिण^३ अम्मह । की लउ
 पाउस, की लउ बम्मह ।
 (२१) कालिका संगामे...। एच्चंती संहारो । दूरित्ता **हम्मारे** ।
 (२२) हत्थी जूहा । **सज्जा हूआ** ।
 (२३) तरुण तरणि तवइ धरणि पवण **बह** खरा ।
लग एहि जल, बड़ मरुथल जणजिवणहरा ।
 दिसइ चलइ हिअअ डुलइ, हम इकलि बहू
 घर एहि पिअ सुणहि पहिअ मण **इल्ल कहुँ**
 (२४) एव मंजरि लिज्जिअ चूअह **गाछे** ।
 परिफुलिअ केसु एआवण **आछे** ।
 जए एत्थिँ दिगंतर जाइहि कंता ।
 किअ मम्मह **एच्छि**, कि **एच्छि** वसंता ।
 (२५) जो पुण पर-उअआर^४ बिरुज्झइ^५ । तासु जणणि किं ए
थक्कइ बँज्झइ ।

(१) मन्मथ । (२) नीप = कदंब । (३) पराधीन । (४) पर
 उपकार । (५) विरोध करता है ।

(२६) आउ बसंत काह, सहि, करिहउँ कंत ए थक्कइ पासे ।
 ब्रज, मारवाड़ी—‘किअउ’=कियो । हम्मारो ।

खड़ी, पंजाबी—चलिअ, मारिअ, चलिआ, जुज्झिया, बुज्झिया
 (= चल्या चला, मार्या मारा, इत्यादि) ।
 रक्खो, रक्खे, हो, ढोह्ला, पयाणा, सज्जा हूआ
 (ब्रज के समान ढोल्लो, पयाणो, सज्जउ हुयउ
 नहीं) । तुम्हाण अम्हाण = तुम्हें हमें । तुम्हा
 (पुराना रूप) = तुम्हारी । हसंती, हरंती (कृदंत
 रूप हँसती, हरती) ।

बैसवाड़ी, अवधी—‘करू धरू’=किया, धरा (तुलसी का ‘कर
 धर’) । चल = चलती है, ताव = तपाता है,
 बह = बहता है (उ०—उत्तर दिसि सरजू बह
 पावनि) । आव = आया । आवे = आए =
 आवेगा (जैसे, ऊ कब आए ?) । पाआ,
 मिटाआ = पावा, मिटावा = पाया, मिटाया ।
 बड़ = बड़ा । लग = पास, निकट (ठेठ
 अवधी) । कहिआ = कब (ठेठ पूरबी या
 अवधी । उ०—कह कबीर किछु अछिलो न
 जहिया । हरि बिरवा प्रतिपालेसि तहिआ ।)

भोजपुरी, मैथिली, बँगला—इछल = इच्छा की । पूरल, मुअल =
 पूरा, मरा । तोहर = तोहरा = तुम्हारा ।
 एच्छ = नहीं है (मैथिलों की छि छि) ।

आछे, थकड़ (बँगला) । गाछे = वृक्ष में
(बिहारी, मैथिली, बँगला) ।

सारांश यह कि अपभ्रंश के नाम से जिस भाषा के पद्य हेमचंद्र के व्याकरण में तथा कुमारपाल प्रतिबोध, प्रबंध चिंता-मणि आदि काव्यों में मिलते हैं वह ज्यों की त्यों किसी एक स्थान की बोलचाल की भाषा नहीं है कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा है । यह भाषा सामान्य दो प्रकार से बनाई गई—

(१) उदारतापूर्वक और और प्रदेशों की बोलियों (अपभ्रंशों) को भी कुछ स्थान देने से ।

ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं । यदि हम कई स्थानों में प्रचलित शब्दों और रूपों को समेटकर एक भाषा खड़ी करें तो उसमें कृत्रिमता का आभास रहेगा । शब्दों में से कुछ कहीं और कुछ कहीं बोले जाते हों तो भी एक ही प्रदेश में सब के न बोले जाने के कारण सब जगह वह कुछ न कुछ कृत्रिम लगेगी—यहाँ तक कि उस स्थान पर भी जहाँ का उसका ढाँचा होगा । आज भी यदि हम पंजाब, ब्रज, अवध, बिहार इन सब स्थानों की चलती बोलियों को समेटकर ही—बिना किसी पुरानी भाषा का पुट दिए—भाषा का एक हौवा खड़ा करें तो वह प्रगल्भता और प्रचुरता में संस्कृत और अरबी से टक्कर लेने लगे । इस प्रकार एक व्यापक और प्रकांड भाषा तो बन जायगी पर उसमें जीवनी शक्ति उतनी न होगी ।

(२) साहित्य की कृत्रिम प्राकृत के पुराने शब्दों को उसी प्रकार स्थान देने से जिस प्रकार पीछे हिंदी-कविता में तत्सम संस्कृत शब्दों को स्थान दिया जाने लगा ।

उद्धृत कविताओं में 'स्वर्ग' का 'सग', विद्याधर का 'विज्ञा-हर', नीप का 'णीव', मन्मथ का 'बम्मह', लोक का 'लोय' प्राकृत की रूढ़ि के अनुसार है । इसी प्रकार प्राकृत से 'पयोहर' (पयोधर), 'महुअर' (मधुकर), रूअ (रूप), कइ (कवि), मिअण-अणी (मृगनयनी) आदि शब्द ज्यों के त्यों लेकर रखे जाते थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि ये बोलचाल के शब्द नहीं थे । बिना साहित्य की प्राकृत पढ़े न कोई कवि पंडित कहलाता था, न उसकी कविता शिष्ट समझी जाती थी । इसी कारण अपभ्रंश की कविता में भी ऐसे ऐसे वाक्य देखने में आते हैं—
रे धणि, मत्त-मअंगज-गामिणि खंजन-लोअणि चंदमुही । इसे उसी प्रकार उस समय की भाषा न समझना चाहिए जिस प्रकार "सुरम्यरूपे, रसरशिरंजिते !" को आजकल की ।

इस प्रकार देश की ठीक ठीक बोलचाल की भाषा बराबर दबी सी रही, उभरकर भोजपत्र, तालपत्र, ताम्रपत्र या कागज पर न आने पाई । कवि लोगों की वाणी सर्वसाधारण की वाणी से भिन्न रही । अपभ्रंश-काल की प्राचीन हिंदी में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि उसमें एक भी संस्कृत शब्द न मिलेगा । साहित्य की कृत्रिम प्राकृत के शब्द पढ़े लिखे लोगों के शब्द समझे जाते रहे और काव्यों में वही

काम देते रहे जो पीछे संस्कृत के शब्द देने लगे । पृथ्वीराज रासो का यदि कुछ अंश भी असली माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि उसके रचना-काल में काव्यभाषा में संस्कृत शब्दों का मिलना प्रारंभ हो चुका था यद्यपि चारणों की परंपरा में प्राकृत-मिली भाषा हम्मीरदेव के समय तक चलती रही और राजपूताने में शायद अब तक थोड़ी बहुत चली चलती है । पर यही कहना चाहिए कि चंद कवि के पीछे प्राकृत के शब्द—जो संस्कृत की अपेक्षा कहीं ज्यादा नकली थे—क्रमशः निकलते गए और धराऊ शब्दों का सजावटी काम संस्कृत शब्द ही देने लगे । प्राकृत का पठन पाठन उठ गया । प्राकृत केवल साहित्य की भाषा थी । उसमें 'गत' का भी 'गय' और 'गज' का भी 'गय', 'मोक्ष' का भी 'मुख' और 'मूर्ख' का भी 'मुख' होने से अर्थबोध में कठिनाई पड़ने लगी । इस प्रकार विचार करने से हिंदी काव्यभाषा के दो बहुत ही स्पष्ट काल दिखाई पड़ते हैं—प्राकृत-काल और संस्कृत-काल; अर्थात् एक वह काल जिसमें भाषा की सजावट के लिए प्राकृत के शब्द लाए जाते थे, दूसरा वह काल जिसमें संस्कृत के शब्द लिए जाने लगे ।

संस्कृत-काल

संस्कृत-काल की काव्यभाषा में भी परंपरागत प्राकृत के कुछ पुराने शब्दों को कवि लोग बराबर लाते रहे । भुवाल (भूपाल), सायर (सागर), दीह (दीर्घ), गय (गज),

बसह (वृषभ), नाह (नाथ), ईछन (ईक्षण), लोय (लोक, लोग), लोयन (लोचन) आदि प्राकृत के शब्द सूर, तुलसी, बिहारी आदि के ग्रंथों में इधर उधर मिलते हैं। इसे कहते हैं परंपरा का निर्वाह !

देश की बोलचाल की चलती भाषा से अपना रूप कुछ भिन्न रखकर किस प्रकार काव्य की भाषा अपनी शान बनाए रही और स्वाभाविक भाषा किस प्रकार दबी रही यह पहले कहा जा चुका है। इसी बीच में देश में मुसलमानों का आना हुआ जो ज़रा ज़बान के तेज़ थे। उस समय तक दिल्ली की बोली (खड़ी) साहित्य या काव्य की भाषा नहीं थी। और प्रादेशिक बोलियों के समान वह भी एक कोने में पड़ी थी। पठानों की राजधानी जब दिल्ली हुई तब मुसलमानों को वहाँ की बोली ग्रहण करनी पड़ी। खुसरो ने उस बोली में कुछ पद्य कहे पर परंपरागत काव्यभाषा (ब्रजभाषा) की झलक उनमें बराबर बनी रही। दो एक उदाहरण लीजिए—

उ०—(क) अति सुंदर जग चाहै जाको । मैं भी देख भुलानी वाको ।

देख रूप भाया जो टोना । ए सखि ! साजन, ना सखि ! सोना ।

(ख) टट्टो तोड़ के घर में आया । अरतन बरतन सब सरकाया ।

खा गया, पी गया दे गया बुत्ता । ए सखि ! साजन, ना सखि कुत्ता ।

पहले पद्य में ब्रजभाषा का पूरा ढाँचा है; दूसरा पद्य खासी खड़ी बोली में है। खुसरो में ब्रजभाषा का यही पुट

देखकर उर्दूभाषा का इतिहास लिखनेवाले उर्दू-लेखकों को यह भ्रम हुआ कि उर्दू अर्थात् खड़ी बोली ब्रजभाषा से निकल पड़ी। पर असल में ब्रजभाषा का मेल परंपरागत काव्यभाषा के प्रभाव के कारण था। इस बढ़ती हुई गजलबाजी के जमाने में और खास दिल्ली में अब भी घरेलू गीतों, कहावतों आदि की भाषा कुछ और ही है, उसमें वह खड़ापन या अक्खड़पन नहीं है। खुसरो ही तक बात खतम नहीं हुई, उर्दू के पुराने शायर बहुत दिनों तक 'नैन' 'जगत' 'सोँ' आदि रसपरिपुष्ट शब्द लाते रहे। पीछे के शायरों ने प्रयत्नपूर्वक देश की परंपरागत काव्यभाषा से अपना पीछा छुड़ाया और खड़ी बोली को अनन्य भाव से ग्रहण कर और उसे अरब और फ़ारस की पोशाक पहनाकर अपनी साहित्य-भाषा एकबारगी अलग कर ली। कहने का तात्पर्य यह कि पुराने उर्दू-कवियों में ब्रजभाषा का पुट केवल यह बतलाता है कि उर्दू-कविता पहले स्वभावतः देश की काव्यभाषा का सहारा लेकर उठी; फिर जब टाँगों में बल आया तब किनारे हो गई, यह नहीं कि खड़ी बोली का अस्तित्व उस समय था ही नहीं और दिल्ली मेरठ आदि में भी ब्रजभाषा बोली जाती थी।

प्राकृत के ग्रंथों में अपभ्रंश के जो नमूने मिलते हैं वे ठीक बोलचाल की भाषा में नहीं हैं, कविपरंपरासिद्ध भाषा में हैं इसका निश्चय खुसरो के पद्यों से हो जाता है। रणथंभौर के हम्मीरदेव अलाउद्दीन के समय में थे जिसके यहाँ खुसरो

का रहना इतिहास-प्रसिद्ध है। वि० सं० १३५३ के लगभग अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा था। अब हम्मीर के समय में या उनके कुछ पीछे बने हुए पद्यों की भाषा को खुसरो की भाषा से मिलाकर देखिए। हो सकता है कि खुसरो की कविता फारसी अक्षरों में लिखी जाने के कारण अपने ठीक रूप में न आ सकी हो, पर कहाँ तक फर्क पड़ा होगा।

पहली प्राणप्रतिष्ठा

अब बोलचाल की चलती बोलियाँ दबी न रह सकीं। मिथिला में विद्यापति ठाकुर ने अपने प्रदेश की बोलचाल की भाषा को आगे किया और उसमें सरस कविता करके वे मैथिल कोकिल कहलाए। इधर व्रजभूमि के कवियों की कृपा से काव्यभाषा का व्रजत्व बढ़ा। जो भाषा साहित्य की भाषा बनकर बोलचाल की भाषा से कुछ अलग अलग बड़ी ठसक से चल रही थी वह व्रजमंडल की चलती हुई भाषा के प्रवाह में डुबाई गई जिससे उसमें नया जीवन आ गया, वह निखरकर जीती जागती भाषा के मेल में हो गई। पर इस बोर में भी काव्यभाषा के परंपरागत पुराने रूप कुछ न कुछ साथ लगे रहे, या यों कहिए कि जान बूझकर रख लिए गए। 'जासु' 'तासु', 'नाह', 'ईछन', 'दीह', 'लोयन' आदि बहुत से पुराने पड़े हुए, बोलचाल से उठे हुए या अप्रचलित प्राकृत साहित्य से आए हुए शब्द तथा शब्दों के कालवाचक और कारकसूचक रूप (जैसे, शोभिजै, कहियत, आवहिँ, करहिँ, रामहिँ) परंपरा

रक्षित रखने के लिये बराबर लाए जाते रहे। ये चलती हुई व्रजभाषा के शब्द और रूप नहीं हैं, उस कविसम्मत भाषा के शब्द और रूप हैं जिसकी परंपरा बहुत पुरानी है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अवधी बोली (जो पूरबी है) के कवियों ने भी इनका प्रयोग किया है। अवधी की कविता में 'जासु' 'तासु' बराबर मिलेंगे पर 'जाको' 'ताको' आदि चलती हुई व्रजभाषा के रूप नहीं पाए जायेंगे; इनके स्थान पर उसमें 'जाकर' 'ताकर' या 'जेकर' 'तेकर' मिलेंगे।

इधर काव्यभाषा ने व्रज का चलता रूप पूरा पूरा धारण किया उधर साहित्य की ओर अवधप्रदेश की भाषा भी अग्रसर हुई। पहले तो इसे लेकर वे लोग ही चले जिनका शिष्ट साहित्य से विशेष संपर्क न था। कबीरदास ने यद्यपि पंच-रंगी मिलीजुली भाषा का व्यवहार किया है जिसमें व्रजभाषा क्या उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा पूरा मेल है जो पंथवालों की सधुक्कड़ी भाषा हुई पर पूरबी भाषा की भलक उसमें अधिक है। 'जहिया', 'तहिया', 'आउब', 'जाब' आदि पूरबी प्रयोग भरे पड़े हैं। धीरे धीरे अवध में जब मुसलमानों की खासी बस्ती हो गई तब वहाँ की भाषा ने उन्हें आकर्षित

* खड़ी बोली मुसलमानों की भाषा हो चुकी थी। मुसलमान भी साधुओं की प्रतिष्ठा करते थे, चाहे वे किसी दीन के हों। इससे खड़ी बोली दोनों धर्मों के अनपढ़े लोगों को साथ लगानेवाले और किसी एक के भी शास्त्रीय पक्ष से संबंध न रखनेवाले साधुओं के बड़े काम की हुई। जैसे इधर अँगरेजों के काम की 'हिंदुस्तानी' हुई।

किया। सहसराम के शासक हुसैनशाह के आश्रित कुतबन ने अवधी बोली में मृगावती लिखी। हुसैनशाह के पुत्र शेरशाह के जमाने में मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' लिखकर हिंदुओं के घरेलू भावों का जो माधुर्य दिखाया उससे अवधी भाषा की शक्ति का परिचय मिल गया। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने जिस प्रकार अपने उपास्य देव की जन्म-भूमि की भाषा प्रेमपूर्वक ली उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने अपने उपास्य की जन्मभूमि अयोध्या की भाषा में अपना रामचरित-मानस लिखा। ऐसे महाकवि के हाथ में पड़कर अवधी भाषा पूर्व से पश्चिम तक ऐसी गूँजी कि काव्य की सामान्य भाषा ने अष्टछाप के कवियों द्वारा ब्रज का जो चलता विशुद्ध रूप पाया था उसमें बाधा पड़ने का सामान हुआ। रहीम ने अवधी भाषा की ओर विशेष रुचि दिखाई। 'बरवै नायिका-भेद' तो उन्होंने अवधी भाषा में लिखा ही, अपने नीति के चुटीले दोहों में भी अवधी के भोलेपन का पूरा सहारा लिया। धीरे धीरे ब्रजभाषा की विशुद्धता की ओर बहुत से कवियों का ध्यान नहीं रहा और वे ब्रजभाषा की कविता में भी अवधी के शब्दों और रूपों का मनमाना व्यवहार करने लगे। अल्प शक्तिवाले कवियों को इसमें सुबीता भी बहुत दिखाई दिया—एक ही अर्थ सूचित करने के लिये शब्दों की एक खासी भीड़ उन्हें मिल गई। कीनो, कियो, कर्यो, कर, किय, कीन; आवैं, आवहिं (मौक्का पड़ने पर 'आवहीं' भी), आवत; थोरो, थोर; मेरो,

मोर; तेरो, तोर-जो छंद में बैठा रख दिया। प्राकृत आदि के पुराने शब्द बने ही थे। इस प्रकार काव्यभाषा के फिर एक सामान्य और किंचित् कृत्रिम रूप प्राप्त करने की आशंका हुई।

इसमें अवध और बुंदेलखंड के कवियों ने विशेष योग दिया। कृत्रिम प्राकृत का षट्भाषावाला लक्षण (संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा। ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च।) नए रूप में फिर से ताजा किया गया। 'दास' जी ने 'काव्यनिर्णय' में भाषानिर्णय भी कर डाला—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोय ।

मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय ॥

ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि ।

सहज पारसी हू मिलै षड विधि कहत बखानि ॥

सुनते हैं आजकल बिहारवाले भी 'भाषानिर्णय' के उद्योग में हैं और क्रियापदों से लिंगभेद का भ्रंश उठवाना चाहते हैं। 'हिंदी-रचनाप्रणाली' पर पुस्तकें भी बिहार ही में अधिक छपती हैं। एक दिन एक पुस्तक मैंने उठाई। आरंभ में ही लक्षणा के उदाहरण में मिला "तुम गधा हो"। मैंने 'आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा' वाक्य को ठीक तौर से दुहराकर पुस्तक रख दी। दास जी ने "ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो" कहकर मिली-जुली भाषा के लिये प्रमाण ढूँढ़ा कि—

तुलसी गंग दुआँ भए सुकविन के सरदार ।

इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ॥

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से उर्दू की तरह हिंदी में भी दो टाट हो गए—एक विशुद्ध भाषा का ब्रजस्कूल, दूसरा मिली जुली भाषा का अवध-स्कूल ।

अपभ्रंश या प्राकृत काल की काव्यभाषा के उदाहरणों में आजकल की भिन्न भिन्न बोलियों के मुख्य मुख्य रूपों के बीज या अंकुर दिखा दिए गए हैं । इनमें से ब्रज और अवधी के भेदों पर कुछ विचार करना आवश्यक है क्योंकि हिंदी काव्य में इन्हीं दोनों का व्यवहार हुआ है । इन दोनों भाषाओं की सीमा कानपुर के पच्छिम मैनपुरी और इटावे के आसपास ठहरती है । पच्छिमी भाषाओं में जिस प्रकार ब्रज सब से पूरबी है उसी प्रकार पूरबी भाषाओं में अवधी सबसे पच्छिम की है । कुछ बातों में ब्रजभाषा अपने से उत्तर की खड़ी बोली के साथ मेल खाती है और कुछ बातों में अवधी के साथ ।

खड़ी बोली के साथ मेल और अवधी से भेद

खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में ब्रज-भाषा में भी 'ने' चिह्न होता है चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय । यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है । हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइँ पवसंतेण = जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से । इसी के अनुसार सक० भूत० क्रिया

का लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होता है। पर और पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया का लिंग वचन बदलता है। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारकचिह्नही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे, 'घोड़ा' और 'सखी' का ब्रजभाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा; केवल कारकचिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन' हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर जबाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे "मूली कैसे दोगी?" वह बोली "एक मूली का क्या दाम बताऊँ?" उन्होंने कहा "एक ही नहीं और लूँगा।" कुँजड़िन बोली "तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङन्त ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है पर ब्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है जैसे, आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान ब्रज की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुं० संज्ञाएँ, विशेषण और संबंधकारक के सर्वनाम ब्रज में

ओकारांत होते हैं—जैसे, घोड़ो, फेरो, भगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो इत्यादि । इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं, जैसे, आवनो, आयबो, करनो, देनो, दैबो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि । पर अवधी का कुछ लघ्वंत पदों की ओर झुकाव है जिससे लिंगभेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है । लिंगभेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है । अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर, गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच इत्यादि विशेषण; आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार सर्वनाम और केर, कर, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं । साधारण क्रिया के रूप भी अवधी में लघ्वंत ही होते हैं जैसे, आउब, जाव, करब, हँसब इत्यादि । यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं, जैसे, ठाढ़, बैठ, आय, गय; उ०—बैठ हैं= बैठे हैं ।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी । —जायसी

(ल) पाट बैठि रह किए सिंगारू । —जायसी

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्तमान की अगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा । —तुलसी ।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि । —तुलसी ।

उच्चारण—दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष व्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है वहाँ व्रज में संधि हो जाती है। जैसे, अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिँ नारि पियारि जिमि—तुलसी), नियाव, इत्यादि व्रजभाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण व्रज को प्रिय नहीं है; जैसे, पूरबी—दुआर, कुवाँर। व्रज—द्वार, क्वारा। इ और उ के स्थान पर य और व की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ (१. इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। २. उहाँ दसानन सचिव हँकारे। —तुलसी) के व्रजरूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है—जैसे, अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै) आदि न कह-कर व्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै,

जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै=ऐहै, जयहै=जैहै आदि) कहेंगे । इसी रुचिवैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और ब्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व'कार के पहले रह गया जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं—जैसे, गैया, कन्हैया, भैया, कौवा, हौवा इत्यादि में । 'और', 'ऐसा', 'भैंस' आदि का उच्चारण पच्छिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', 'भइँस' से मिलता जुलता होगा ।

ब्रज के उच्चारण के ढंग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं । कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता जुलता करते हैं । 'माहिँ, नाहिँ, याहि, वाहि' आदि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ', 'याय', 'वाय' के ऐसा होता है । 'आवैंगे', 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है । पर मेरी समझ में लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा ।

अवधी के साथ मेल और खड़ी बोली से भेद

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही हैं इसीसे उनमें लिंगभेद रहता है—जैसे, आता है=आता हुआ है=सं० आयान् (आयान्त) । उपजता है=उपजता

हुआ है=प्राकृत 'उपजंत'=सं० उत्पद्यन्त, उत्पद्यन् । करता है=करता हुआ है=प्रा० करंत=सं० कुर्वन्त, कुर्वन् । आती है=आती हुई है=प्रा० आयंती=सं० आयान्ती । उपजती है=उपजती हुई है=प्रा० उपजंती=सं० उत्पद्यन्ती । करती है=करती हुई है=प्रा० करंती=सं० कुर्वन्ती । इसी प्रकार वह गया=स गतः, उसने किया=तेन कृतम् इत्यादि । पर ब्रजभाषा और अवधी में वर्त्तमान और भविष्यत् के तिङन्त रूप भी हैं जिनमें लिंगभेद नहीं है । ब्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोलचाल की भाषा में तिङन्त प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुषविधान के लिये 'है' 'हूँ' और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं । जैसे, सं० चलति=प्रा० चलइ=ब्रज० चलै । उत्पद्यते=प्रा० उपज्जइ=ब्रज० उपजै । सं० पठन्ति=प्रा० पढंति, अप० पढइ=ब्रज० पढ़ै । उत्तम पुरुष, सं० पठामः=प्रा० पठामो; अप० पढउं=ब्रज० पढ़ौ या प.ढ़ूँ । अब ब्रज में ये क्रियाएँ 'होना' के रूप लगाकर बोली जाती हैं,—जैसे, चलै है, उपजै है, पढ़ै है, पढ़ौ हौं या प.ढ़ूँ हूँ । इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा । वर्त्तमान के तिङन्त रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं पर कविता में बराबर आए हैं उ०—(क) पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । भविष्यत् के तिङन्त रूप अवधी और ब्रज दोनों में एक ही हैं—जैसे, करिहै, चलिहै, होयहै=अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ=प्रा० करिस्सइ,

चलिस्सइ, होइस्सइ=सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति । अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही हैं पर ब्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय=करिहै, होयहय=होयहै इत्यादि रूप हो जायँगे । 'य' के पूर्व के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं—जैसे, अयहै=ऐहै, जयहै=जैहै, करयहै=करैहै इत्यादि । उत्तम पुरुष—खयहौं=खैहौं, अयहौं=ऐहौं, जयहौं=जैहौं ।

ब्रजभाषा में बहुवचन के कारकचिह्नप्राही रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है—जैसे, घोड़ान को, घोड़न को; छोरान को, छोरन को इत्यादि । अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं । उ०—देखहु बनरन केरि ठिठाई ।—तुलसी ।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं । विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते । इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंधकारक के सर्वनाम में मिलता है—जैसे, किसका=सं० कस्य=प्रा० नपुं० किस्स+कारक चिह्न 'का' । काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है । अवधी में अब भी सर्वनाम में कारकचिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है जैसे 'केहिकाँ' (पुराना रूप केहि कहँ), 'केहि कर' यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है । ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन

हो गए, उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों (जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और ब्रजभाषा में हैं—जैसे पुराना रूप 'रामहिं', 'बनहिं' घरहिं नए रूप 'रामैं' 'बनैं' घरै (अर्थात् राम को, बन को, घर को); अवधी या पूरबी "घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा जा चुका है ब्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। ब्रजभाषा की कविता में 'रामहिं', 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिं' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते हैं वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों में (जाहि, वाहि, तिन्हैं, जिन्हैं,) यह 'ह' रह गया है। चलती भाषा में 'रामैं', 'बनैं', 'आवैं', 'जायँ', 'करैं', 'करौ' ही बहुत दिनों से—जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से—हैं। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैं', 'चलावैं' के स्थान पर 'आवहिं', 'चलावहिं' क्या 'आवहीं', 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफाई जाती रही। शब्दों का अंगभंग करने का

‘कविदेा’ ने ठेका सा ले लिया । समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की भाषा तो ठिकाने की होती थी, शेष चरण इस बात को भूलकर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के कुछ नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते हैं । पर भाषा के जीते जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों ने ऐसे सड़े गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया है—किया भी है तो बहुत कम । ‘आवहिँ’, ‘जाहिँ’, ‘करहि’, ‘करहु’ न लिखकर उन्होंने बराबर ‘आवैं’, ‘जायैं’, ‘करै’, ‘करौ’ लिखा है । इसी प्रकार ‘इमि’, ‘जिमि’, ‘तिमि’ के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के ‘यौ’, ‘ज्यौ’, ‘त्यौ’ लाए हैं । ब्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनामों के कर्म में ‘ह’ कुछ रह गया है, जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्हैं, तिन्हैं । पर ‘जाहि’, ‘वाहि’ के उच्चारण में ‘ह’ घिसा जा रहा है, लोग ‘जाय’ ‘वाय’ के समान उच्चारण करते हैं ।

हिंदी की तीनों बोलियों में (खड़ी, ब्रज और अवधी) व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारकचिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं । ब्रजभाषा में विकार अवधी का सा होता है, खड़ी बोली का सा नहीं ।

खड़ी

अवधी

ब्रज

मैं, तू-वह । मैं-तैँ-वह, सो, ऊ । मैं-तू या तैँ-वह, सो ।

मुझ-तुझ-उस । मो-तो-वा, ता, ओ । मो-तो-वा, ता ।

ख

‘ने’ चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। व्रज में उत्तम पुरुष कर्ता का रूप ‘ने’ लगाने पर ‘मैं’ ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। व्रज में एकवचन उत्तम पुरुष ‘हौ’ भी आता है जिसमें कोई कारक-चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्ताकारक में होता है पर केशव ने कर्म में भी किया है, यथा—पुत्र हौ विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

‘जाना’ ‘होना’ के भूतकाल के रूप (गवा, भवा) में से ‘व’ उड़ाकर जैसे अवधी में ‘गा’ ‘भा’ रूप होते हैं वैसे ही व्रज में भी ‘य’ उड़ाकर ‘गो’ ‘भो’ (बहु० गे, भे) रूप होते हैं। उ०—(क) इत पारि **गो** को, मैया ! मेरी सेज पै कन्हैया को ?—पद्माकर। (ख) सौतिन के साल **भो**, निहाल नंदलाल **भो**।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न ‘से’ क्रिया के साधारण रूप में लगाती है; व्रज और अवधी प्रायः भूतकालिक कृदंत में ही लगाती हैं, जैसे, व्रज० ‘किए तें’, अवधी ‘किए सन’=करने से। कारकचिह्न प्रायः उड़ा भी दिया जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है, जैसे, किए, दीने।

क्रिया का वर्तमान कृदंत रूप व्रजभाषा खड़ी के समान दीर्घांत भी रखती है, जैसे, आवतो, जातो, भावतो, सुहातो। (उ०—जब चाहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—

सूर) और अवधी के समान लघ्वन्त भी, जैसे, आवत, जात, भावत, सुहात । कविता में सुबीते के लिए लघ्वन्त का ही ग्रहण अधिक है । जिन्हें व्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं ।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अन्त होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होता है पर व्रजभाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अन्त होनेवाला, जैसे, आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से अन्त होनेवाला, जैसे, आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अन्त होनेवाला, जैसे, आयबो, करिबो, दैबो या लैबो इत्यादि । करना, देना और लेना के 'कीबो' 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं । व्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते । पिछले दो रूपों में ही लगते हैं—जैसे, आवन को, जान को, दैबे को इत्यादि । शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर साधारण क्रिया का रूप वर्तमान तिङन्त का हो जाता है, जैसे, आवइ के, जाइ के, आवइ में, जाइ में अथवा आवइ काँ, जाइ काँ, आवइ माँ, जाइ माँ । उ०—जात पवनसुत देवन देखा । **जानइ कहँ** बल बुद्धि विसेखा । सुरसा नाम अहिन कै माता । पठइन आइ कही तेइ बाता ।—तुलसी ।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अन्त में 'ब' रहता है जैसे आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि । इस 'ब'

की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं, जैसे—पुनि आउब यहि बेरियाँ काली ।—तुलसी । उत्तम पुरुष (हम करब, मैं करबौ) और मध्यम पुरुष (तूँ करबौ, तैँ करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा । —तुलसी । (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू । कौन उतरू पाउब पैसारू—जायसी । पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया । मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में ‘ब’ में ‘ई’ मिलाकर ब्रज के दक्षिण से लेकर बुँदेलखंड तक बोलते हैं, जैसे, आयबी, करबी, इत्यादि । उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लये । (ख) ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई ।—तुलसी । यह प्रयोग ब्रजभाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्रायः सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है—सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि रामसहाय ने भी । जैसा ऊपर कहा जा चुका है जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं । साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है वह इसी उदारता के बल से । इसी प्रकार ‘स्यो’ (=सह, साथ) शब्द बुँदेलखंड का समझा जाता है जिसका प्रयोग केशवदास जी ने, जो बुँदेलखंड के थे, किया है, यथा—“अलि स्यो सरसीरूह राजत है” । बिहारी ने तो इसका

प्रयोग किया ही है। पर उन्होंने जैसे 'करिबी' और 'स्यो' का प्रयोग किया है वैसे ही अवधी 'कीन' 'दीन' 'केहि' (=किसने) का प्रयोग भी तो किया है। 'स्यो' का प्रयोग दासजी ने भी किया है जो खास अवध के थे, यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अतः किसी के काव्य में स्थान-विशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही का रहनेवाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यवहार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया ? उदाहरण लीजिए—
 “जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी। एतक दूर जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है **प्यारी**”। ‘महँगा’ के अर्थ में ‘प्यारा’ पंजाबी है। अब पूरबी के नमूने लीजिए—
 (क) नेकु गोपालै मोको लै री। देखौं कमलबदन नीके करि ता पाछे तू **कनिया** लै री। (ख) **गोड़** चापि लै जीभ मरोरी। ‘कनिया’ (गोद) और ‘गोड़’ (पैर) खास पूरबी हैं। डर है कि कहीं हिंदीवालों में भी लोग अपने गाँव के पास पुराने प्रसिद्ध कवियों की मूर्तियाँ खोद खोद कर न निकालने लगें।

ब्रजभाषा की कुछ विशेषताएँ

खड़ी बोली की आकारांत पुं० संज्ञाओं, विशेषणों, और भूत कृदंतों का (विकल्प से वर्तमान कृदंतों का भी) ओकारांत होना ब्रजभाषा का सब से प्रत्यक्ष लक्षण है। यह संस्कृत के

पुं० कर्त्ताकारक के स् (=सु) का विकार है जो शौरसेनी से आकर
 व्रज के कर्त्ता और कर्म में देखा जाता है। संस्कृत में आकारांत
 पुं० शब्द तो इने गिने हैं। हिंदी में जो शब्द आकारांत हैं वे
 अधिकतर संस्कृत में अकारांत थे, जैसे घोड़ा, पासा सं०
 घोटक, पाशक। कर्त्ता का रूप घोटकः=प्रा० (घोड़
 अ+उ) घोड़ओ; पाशकः=प्रा० (पासअ+उ) पास
 ओ=व्रज० घोड़ो, पासो। इसी प्रकार भूत और वर्तमान कृदंत
 शब्दों के अन्तिम 'त' का 'अ' हुआ और फिर उसमें 'उ' जुड़-
 कर 'ओ' हो गया। जैसे, चलितः=चलिअ+उ=चलिअउ
 =चल्यो। कृतः=किअ+उ=किअउ=कियो। गतः=गअ
 या गय+उ=गयउ=गयो। कहने की आवश्यकता नहीं कि
 जिसे भूत-कृदंत-मूलक सकर्मक क्रियाओं का कर्म कहते हैं
 वह भी वास्तव में कर्त्ता ही है अतः उसका भी ओकारांत
 होना ठीक ही है। भाषा के इतिहास की दृष्टि से (चलते
 व्याकरण की दृष्टि से नहीं) ऐसी क्रियाओं के कर्म में 'को'
 चिह्न लगाना ठीक नहीं है। स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त को
 यह 'को' नापसंद था।

इस 'ओ' के नियम का अपवाद भी है। जैसे संस्कृत में
 स्वार्थे 'क' आता है वैसे ही हिंदी में 'डा', 'रा', 'आ', 'ना',
 'वा', आदि आते हैं। जैसे, खड़ी-मुखड़ा, बछड़ा; व्रज और
 अवधी—हियरा, जियरा, अधरा, बदरा, अँचरा, अँसुवा, बटा
 (बाट), हरा (हार), लला (लाल), भैया (भाई+आ),

कन्हैया (कन्हार्इ + आ); पूरबी या अवधी—करेजवा, बदरवा* सुगना, बिधना । ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न कारकचिह्न लगने के पहले उनका रूप एकरांत होता है ।

उ०—(क) क्यों हँसि हेरि हरयो **हियरा** अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई ?—घनानंद ।

(ख) वहै हँसि दैन **हियरा** ते' न टरत है ।—घनानंद ।

(ग) जान मेरे **जियरा** बनी को कैसो मोल है ।—घनानंद ।

(घ) **बदरा** बरसैं ऋतु में घिरि कै, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं ।—घनानंद ।

(च) बारि फुहार भरे **बदरा** सोइ सोहत कुंजर से मतवारे ।
—श्रीधर पाठक ।

(छ) हे बिधना ! तो सेँ **अँचरा** पसारि माँगौ जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिवो ।—छीत स्वामी ।

(ज) जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल **बला** के **लला** न बिकैहौ ।—रसखान ।

(झ) कुच दुंदन को पहिराय **हरा** मुख सौंधी सुरा महकावति हैं ।—श्रीधर पाठक ।

(२) बूमिहैं **चबैया** तब कैहौ कहा, दैया ! इत पारि गो को, मैया ! मेरी सेज पै **कन्हैया** को ।—पदमाकर ।

कारक के कुछ चिह्न भी ब्रजभाषा के निज के हैं—

* ऐसे शब्दों की बहार रहीम के “बरवै नायिकाभेद” में देखिए जो अवधी या पूरबी भाषा में है ।

कर्ता—(१)...(२) ने

कर्म—को (कौं)

करण—सों; ते

संप्रदान—को (कौं)

अपादान—ते

संबंध—को

अधिकरण—में; मों, पै ('पर' भी) ।

‘यह’, ‘वह’, ‘सो’, ‘को’, या ‘कौन’, और ‘जो’ इन सर्वनामों के रूप कारकचिह्न लगाने के पहले क्रमशः ‘या’, ‘वा’, ‘ता’, ‘का’ और ‘जा’ (जैसे, याने, वाको, तासों, काको, जाको,) होते हैं, अवधी के सम्मन ‘यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि’ नहीं । अतः ‘यहि को’ ‘यहि बिधि’ आदि रूप शुद्ध व्रज नहीं हैं ।

खड़ी बोली में कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के हैं । ‘इज्ज’ और ‘इज्जा’ प्राकृत में भी मिलते हैं—जैसे, अप० पढ़िज्जहि पढ़ीयहि = हिं० पढ़ीजै, पढ़िए । व्रजभाषा में आज्ञा और विधि के अतिरिक्त वर्तमान और भविष्यत् में भी चाहे कोई पुरुष हो इनका प्रयोग मिलता है । यह स्वच्छंदता प्राकृत में भी थी । हेमचंद्र ने (३—१७८) ‘हो’ धातु तथा और धातुओं में भी सब कालों के लिये इन रूपों का प्रयोग लिखा है । नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क) पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन **शोभिजै** सुठि सूर ।—केशव ।

(ख) रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यों

विष घोरिये जू ।—घनानंद ।

(ग) जो कछु है सुख संपति सौंज सो नैसुक ही हँसि
देन में बैये ।—घनानंद ।

‘ए’ निकालकर और वर्तमान का चिह्न ‘त’ लगाकर भी
इसका प्रयोग हुआ है—

“कहा चतुराई ठानियत प्राणप्यारी, तेरो मान जानियत
रुखे मुँह मुसकान सों ।”—मतिराम ।

उत्तम पुरुष के साथ संभाव्य भविष्यत् काल का उदाहरण—

(क) ज्ञान निराश कहा लै कीजै ?—सूर ।

(ख) नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसक
जीजै । हँ बनमाल हिये लगिये अरु हँ मुरली अधरारस
पीजै ।—मतिराम ।

‘दीजिए’, ‘कीजिए’ का जैसा पुराना प्रयोग ऊपर
दिखाया गया है वैसे ही पुराने कुछ और भी प्रयोग कवियों ने
किए हैं । अपभ्रंश प्राकृत के जो अवतरण आरंभ में दिए गए
हैं उनमें भूत (कृदंत) के ‘मारिअ’, ‘चलिअ’, ‘जाईयउ’ इत्यादि
रूप देखने में आते हैं । इन्हीं रूपों से पंजाबी मार्या, खड़ी
और अवधी—मारा; ब्रज—मार्यो, चल्यो, जायो इत्यादि रूप
बने हैं । कहीं कहीं हिंदी के कवियों ने अपभ्रंश के पुराने रूप
ज्यों के त्यों रख दिए हैं । केशवदासजी ने ऐसा बहुत किया है—

(क) पूजि रोचन स्वच्छ अच्छत पट्ट बाँधिय भाल ।
(=बाँधा)

(ख) भूष भूषण शत्रुदूषण **छाँड़ियो** तिहि काल ।
(=छोड़ा)

(ग) बन माँझ ढेर सुनी कहूँ कुश **आइयो** अकुलाय ।
(=आया)

(घ) तब और बालक आनि । मग **रोकियो** तजि कानि ।
(=रोका)

‘हो’ धातु का भूतकाल खड़ी बोली में ‘था’ होता है पर ब्रज में ‘हुतो’, ‘हतो’ या ‘हो’ होता है । ब्रज की चलती बोलचाल में ‘हुतो’, और ‘हुते’ का ‘हो’ और ‘हे’ प्रायः हो जाता है, जैसे—

(क) बिनु पावस तो इन्हैं ध्यावस **हो** न, सु क्यों करि ये अब सो परसैं ?—घनानंद ।

(ख) एक दिवस मेरे घर आए मैं **ही** महति दही ।—सूर

(ग) तब तौ छवि पीवत जीवत **हे** अब सोचन लोचन जात जरे ।—घनानंद ।

(घ) तब हार पहार से लागत **हे** अब आय कै बीच पहार परे ।—घनानंद ।

इस ‘हतो’ का प्रयोग बुँदेलखंड में अधिक है । काल-ज्ञापन के अर्थ जहाँ यह किसी क्रिया के साथ संयुक्त होता है वहाँ प्रायः ‘ह’ निकल जाता है केवल ‘तो’ रह जाता है । यह शुद्ध बुँदेलखंडी है—

(क) छोड़ोइ चाहत **ते** तब तेँ तन ।

पाय निमित्त कर्यो मन पावन ।—केशव ।

(ख) अंगद जो तुम पै बल होतो ।

तो वह सूरज को सुत को **तो** ?—केशव ।

(ग) जल भरन जानकी आई **तीं** । गोद ललन लै आई **तीं** ।
—गीत ।

इसी 'भू' धातु से बने भूत कृदंत को करणकारक का रूप देने से प्राकृत की 'हितो' (=से) विभक्ति बनी है । इस बात का स्पष्ट आभास केशवदास जी ने दिया है—

सीतापद सम्मुख **हुते** गयों सिंधु के पार ।

विमुख भए क्यों जाउँ तरि सुनौ, भरत, यहि बार ।

हुते = हुए से = होने से । सूरदास जी ने इसका प्रयोग 'ओर से', 'तरफ से' के अर्थ में किया है—

श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे **हुतो** भेंटियो ।

प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति की प्रतिनिधि "से^०ती" (=से) पुरानी खड़ी बोली में खुसरो और कबीर के बहुत पीछे तक थी—

तोहि पीर जो प्रेम की पाका **से^०ता** खेल ।—कबीर ।

'ओर से', 'बदले में' के अर्थ में भी 'संती' अवधी में अब तक बोला जाता है ।

खड़ी बोली में आज्ञा और विधि में जहाँ क्रिया का साधारण रूप रखा जाता है (जैसे, तुम आना) वहाँ व्रज-भाषा धातु में 'इयो' लगती है, जैसे, आइयो, जाइयो, करियो, इत्यादि ।

कारक के कुछ प्रयोग भी ब्रजभाषा के निज के हैं जो न खड़ी बोली में होते हैं, न अवधी में। जैसे, अधिकरण चिह्न 'पै' का प्रयोग करण और अपादान के अर्थ में। उ०—(क) शेष शारदा पार न पावैं मोपै किमि कहि जैहै ? (ख) तू अलि ! कापै कहत बनाय ?—सूर।

साहित्य की जो भाषा होगी वह ऐसे सामान्य शब्दों को ही व्यवहार में लाएगी जिनका प्रचार दूर दूर तक होगा। किसी भूखंड के एक कोने का प्रयोग, चाहे वह कोना वही का क्यों न हो जहाँ की भाषा टकसाली मानी जाती है, शिष्ट प्रयोग में नहीं आएगा। शीघ्र के अर्थ में “सिदौसी” मथुरा वृन्दावन में बराबर बोला जाता है पर साहित्य में नहीं लिया गया है। इसी प्रकार जहाँ कर्म लुप्त होता है या नियत लिंग का नहीं होता वहाँ भूत० क्रिया ‘कहा’ को स्त्रीलिंग बोलने की प्रवृत्ति ब्रज में अधिक है जैसे, ‘वाने कह्यो’ के स्थान पर ‘वाने कही’। स्वीकृति-सूचक शब्द ‘अच्छा!’ के स्थान पर भी “अच्छी!” बोलते हैं। पर ऐसे प्रयोग साहित्य से प्रायः अलग रखे गए हैं।

अवधी की कुछ विशेषताएँ

पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे अवधी के स्वरूप का भी बहुत कुछ परिचय हो गया होगा। यद्यपि अवधी पूरबी हिंदी के अंतर्गत है पर उसके भीतर भी हम दो प्रकार के रूप पाते हैं—एक पच्छिमी, दूसरा पूरबी। पच्छिमी अवधी

ब्रजभाषा से पूरबी की अपेक्षा कुछ अधिक मिलती है । अयोध्या और गोंडे के आस-पास जो भाषा बोली जाती है वह पूरबी या शुद्ध अवधी है । लखनऊ, कानपुर से लेकर कन्नौज के पास तक जो भाषा बोली जाती है वह पच्छिमी अवधी है जिसके अंतर्गत बैलवाड़ी है । कन्नौज और इटावे के पास पहुँचते पहुँचते यह भाषा ब्रजभाषा से यहाँ तक मिल जाती है कि ओकारांत रूप भी आ जाते हैं । तीन सर्वनाम ऐसे हैं जिन्हें पकड़ने से दोनों के स्थान का पता बहुत जल्दी लग सकता है । खड़ी बोली के 'कौन' 'जो' और 'वह' के हमें अवधी के क्षेत्र के भीतर ही दो दो रूप मिलते हैं—'को', 'जो', 'सो' और 'के', 'जे', 'से', या 'ते' । पच्छिमी अवधी में हमें 'को', 'जो', 'सो' मिलेंगे और पूरबी में 'के', 'जे', 'से', या 'ते' । जैसे, पच्छिमी—को आय ?; पूरबी—के है ? = कौन है ? पच्छिमी—'जो जइहँ सो पइहँ'; पूरबी—'जे जाई से पाई' = जो जायगा वह पाएगा । 'को, जो, सो, शौरसेनीपन है और 'के, जे, से' मागधी या अर्द्धमागधीपन ।

'को', 'जो', 'सो' के कारकचिह्नग्राही रूप ब्रजभाषा के समान क्रमशः 'का', 'जा', 'ता' होंगे—जैसे काकर, जाकर, ताकर (पर 'केर' के योग में पच्छिमी अवधी में भी पूरबी का रूप रहता है जैसे 'केहि केर'), तासन । पर 'के', 'जे', 'से' के रूप सामान्य विभक्ति (हि) के साथ कारकचिह्न लगाने पर भी नहीं बदलते, जैसे केहिकर (या केकर), जेहि महँ

(बोलचाल जेहि माँ), 'तेहि सन' इत्यादि । ब्रज और खड़ी के समान पच्छिमी अवधी में भी साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है जैसे, आवन, जान, करन इत्यादि पर पूरबी अवधी की साधारण क्रिया के अंत में 'ब' रहता है, जैसे, आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि । आगे कारकचिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर खड़ी और ब्रज के समान पच्छिमी अवधी में नांत रूप रहता है, जैसे, आवन काँ (पुराना रूप—आवन कहँ), करन माँ (पु० करन महँ), आवन लाग इत्यादि । पर पूरबी अवधी में कारकचिह्न या दूसरी क्रिया संयुक्त होने पर साधारण क्रिया का रूप ही नहीं रहता वर्तमान का तिङ्गंत रूप हो जाता है जैसे 'आवै काँ', 'जाय माँ' (या 'आवै के, जाय में'), 'करै कर', आवै लाग, करै लाग, 'सुनै चाहौ' इत्यादि । करण के चिह्न के पहले पूरबी और पच्छिमी दोनों अवधी भूतकृदंत का रूप कर लेती हैं जैसे, आए से, चले से, आए सन, दिए सन । संयुक्त क्रिया के प्रयोग में तुलसीदास जी ने यह विलक्षणता की है कि एकवचन में तो पूरबी अवधी का रूप रखा है और बहुवचन में पच्छिमी अवधी का, जैसे—कहइ लाग, कहन लागे । पच्छिमी अवधी में ब्रजभाषा के समान प्रथम पुरुष एकवचन भविष्यत् क्रिया के अंत में 'है' होता है (जैसे, करिहै, सुनिहै, मिलिहै) पर पूरबी अवधी में पहले अंत में 'हि' था (जैसे—होइहि, आइहि, जाइहि) परंतु अब 'ह' के घिस जाने और बचे हुए 'इ' के पूर्व 'इ' के साथ मिल जाने से 'ई'कारांत रूप हो

गया है, जैसे, आई, जाई, करी, खाई । तुलसीदास जी ने भविष्यत् में पूरबी या शुद्ध अवधी का ही प्रयोग अधिक किया है, उ०—(क) **होइहि** सोइ जो राम रचि राखा । (ख) जस बर मैं बरनउँ तुम्ह पाहीं । **मिलिहि** उमहिं तस संसय नाहीं ।

अवधी भाषा के साहित्य में दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं—जायसी की 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास जी का 'राम-चरित-मानस' । इन दोनों ग्रंथों में पूरबी और पच्छिमी दोनों (अवधी) के रूप मिलते हैं—

(क) भयउ **सो** कुंभकरन बलधामा ।—तुलसी ।

(ख) **तेइ** सब लोक लोकपति जीते ।—तुलसी ।

(ग) **जाकर** चित अहिगति सम भाई ।—तुलसी ।

(घ) **जेहि कर** जेहि पर सत्य सनेहू ।

सो तेहि मिलत न कछु संदेहू ॥—तुलसी ।

(च) **तेहि कर** वचन मानि बिस्वासा ।—तुलसी ।

(छ) जो **जाकर** सो **ताकर** भयऊ ।—जायसी ।

(ज) **जेहि** कइ अस पनिहारी से रानी केहि रूप ।—जायसी ।

(झ) लागीं सब मिलि **हेरइ** ।—जायसी ।

(ट) लाग सो **कहइ** रामगुनगाथा ।—तुलसी ।

(ठ) लगे चरन **चाँपन** दोउ भाई ।—तुलसी ।

(ड) बंधु बिलोकि **कहन** अस लागे ।—तुलसी ।

भूतकालिक क्रिया का आकारांत रूप विशुद्ध अवधी में

या तो सकर्मक उत्तम पुरुष बहुवचन में (विकल्प से) या अकर्मक प्रथम पुरुष एकवचन में होता है—जैसे, हम पावा, ऊ चला । पर साहित्य की अवधी में आकारांत भूतकालिक रूपों का पच्छिमी हिंदी के समान पुरुषभेदमुक्त स्वच्छंद प्रयोग भी बराबर मिलता है, जैसे—(क) कृपानिधान राम सब **जाना** । (ख) रहा बालि बानर मैं **जाना** । (ग) का पूछहु तुम अबहुँ न **जाना** ।—तुलसी । ठेठ अवधी में क्रिया का रूप सदा कर्त्ता के पुरुष (और लिंग वचन भी) के अनुसार होता है कभी कर्म के अनुसार नहीं, अतः उक्त तीनों उदाहरणों में ‘जानना’ क्रिया के रूप बोलचाल की अवधी के अनुसार क्रमशः ‘जानिन’, ‘जान्योँ’ और ‘जान्यो’ होंगे ।

भूतकालिक रूपों में जहाँ खड़ी बोली में अंत में ‘या’ होता है वहाँ अवधी में ‘वा’ होता है—जैसे, आवा, लावा, बनावा । ‘जाना’, ‘होना’ के भूतकाल के रूप ‘व’ निकालकर भी होते हैं—जैसे, ‘गा’, ‘भा’ ।

भूतकालिक क्रिया के सर्वनाम कर्त्ता के प्रयोग में दोनों ग्रंथों में एक विलक्षणता देखने में आती है । अकर्मक के कर्त्ता के रूप तो पच्छिमी जो, सो, को मिलते हैं, जैसे, भयउ सो कुंभकरन बलधामा; पर सकर्मक के कर्त्ता के रूप केहि, जेहि, वेहि या केइ, जेइ, तेइ (बहुव० किन, जिन, तिन) मिलते हैं और उनकी क्रियाओं के लिंग वचन कर्म के अनुसार (जैसा पच्छिमी हिंदी में होता है) होते हैं जो अवधी की चाल के विरुद्ध है ।

उ०—(क) बंदनीय **जेहि** जग जस पावा ।

(ख) मति कीर्तति गति भूति भलाई ।

जब जेहि जतन जहाँ **जेहि** पाई ॥

(ग) पारबती निरमयउ **जेइ** सो करिहै कल्यान ।

(घ) **तेहि** धरि देह चरित कृत नाना ।

(च) **तेहि** सब लोक लोकपति जीते ।

(छ) **जेइ** यह कथा सुनी नहिँ होई ।

(ज) **जिन** हरिभगति हृदय नाहिँ आनी ।

(झ) दुइ जग तरा प्रेम **जेइ** खेला ।—जायसी ।

(ट) **केइ** सुकृती केहि घरी बसाए ।

कर्त्ता के पुरुष के अनुसार नियत अपने सकर्मक भूतकालिक रूपों के अतिरिक्त सुबीते के लिए पच्छिमी हिंदी का पुरुषभेदमुक्त रूप भी साहित्य में रख लिया गया यह बात तो समझ में आ जाती है पर कर्त्ता का रूप अपभ्रंश प्राकृत या पूरबी अवधी का क्यों रखा गया यह भेद नहीं खुलता । अवधी पूरबी भाषा है अतः उसमें भूतकालिक सकर्मक क्रिया कारकचिह्न-रहित कर्म के अनुसार नहीं होती, सदा कर्त्ता के अनुरूप होती है । जायसी ने शुद्ध अवधी का प्रयोग अधिक किया है अतः उन्होंने क्रिया का रूप पुरुषभेदमुक्त रखकर भी उसे अकसर कर्म के लिंग वचन के अनुसार नहीं बदला है—

(क) भूलि चकोर दिहिटि तहँ **लावा** ।

(ख) कित तीतर बन जीभ **उचेला** ।

गोस्वामी तुलसीदास जी 'लावा' और 'उघेला' के स्थान पर 'लाई' और 'उघेली' लिखते। गोस्वामी जी साहित्य के पंडित थे और उनका परंपरागत काव्यभाषा से अधिक संबंध था इससे उन्होंने जहाँ क्रिया का पुरुषभेदवर्जित पच्छिमी रूप लिया वहाँ उसे नियमानुसार कर्म के लिंग वचन के बंधन में रखा पर जायसी बेचारे से वहाँ भी कहीं कहीं अवधीपन रह ही गया। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस को छोड़ अपने और सब ग्रंथ प्रायः देश की सर्वमान्य काव्यभाषा ब्रजभाषा में ही लिखे यद्यपि उनमें भी जगह जगह अपनी मातृभाषा अवधी के शब्द (जैसे विनयपत्रिका में 'रोटी लूगा') वे बिना लाए न रह सके। साहित्य के संस्कार के कारण ही रामचरित-मानस में भी कहीं इधर उधर ब्रजभाषा की झलक दिखाई पड़ जाती है—

(क) अस कहि चरण **गहे** वैदेही (कर्म के अनुरूप बहु व० क्रिया)

(ख) सुमन पाय मुनि पूजा **कीन्हीं** (कर्म के अनुसार स्त्री० क्रिया)

(ग) जनक विनय तिन्ह आनि **मुनाई** (वही)

(घ) मिलनि बिलोकि भरत रघुबर **को** (पच्छिमी संबंध-चिह्न)

(च) अगम सनेह भरत रघुबर **को** (ब्रज का संबंधचिह्न)

(छ) बंदउँ राम नाम रघुबर **को** (वही)

(ज) मन जाहि राचेउ मिलेउ सो वर सहज सुंदर
साँवरो (व्रज का ओकारांत)

(झ) बध्यो चहत यहि कृपानिधाना (व्रज का ओका-
रांत कृदंत)

अवधी में क्रिया का रूप सदा कर्ता के लिंग, वचन और
पुरुष के अनुसार होता है । सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं के
रूप भी कर्ता के पुरुष और वचन के अनुसार नियत होते हैं—
अन्तम पुरुष एक वचन —“मैं” (क) **जानेउँ** मरम राउ हँसि
कहई— तुलसी ।

„ ब० व० “हम” (ख) अब भा मरन सत्य हम
जाना ।—तुलसी ।

अन्तम पुरुष एक व० ‘तै’ (क) प्रथमहिं कस न **जगायसि**
आई । —तुलसी ।

„ बहु व० ‘तुम या तूँ’ (ख) देन **कहेहु** बरदान दुइ
तेउ पावत संदेह ।—तुलसी ।

अन्तम पुरुष एक व० ‘ऊ’ या ‘वह’ (क) **प्रगटेसि** तुरत रुचिर
ऋतुराजा ।

„ बहु व० ‘वै’ या ‘तिन’
(ख) जात पवनसुत देवन देखा ।

जानइ कहँ बल बुद्धि बिसेखा ॥

सुरसा नाम अहिन कै माता ।

पठइन; आइ कही तेइ बाता ॥

जैसा पहले कहा जा चुका है अवधी की रुचि लघ्वन्त पदों की ओर रहती है इसी से वह भूतकालिक क्रियाओं के कुछ लघ्वन्त रूप भी रखती है जिनमें लिंग, वचन और पुरुष के विकार की गुंजाइश नहीं होती जैसे, कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह, दीख, बैठ, लाग इत्यादि । ३०—

(क) मैं सब **कीन्ह** तोहि बिनु पूछे ।

(ख) मैं सब समुझि **दीख** मन माहीं ।

अवधी के कारकचिह्न इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—...

कर्म—के, काँ (पुराना रूप कहँ)

करण—से, सन

संप्रदान—के, काँ (पुराना रूप कहँ)

अपादान—से, ते

संबंध—कै, कर (बोल चाल—‘क’) और केर

अधिकरण—में, माँ (पुराना रूप महँ) और पर

अवधी में संबंध के चिह्न तीन हैं ‘कै’, ‘कर’ और ‘केर’ ।

इनमें से ‘कै’ और ‘कर’ में लिंगभेद नहीं है यद्यपि तुलसीदास जी ने ‘कै’ या ‘कइ’ को स्त्रीलिंग के संबंध में नियत सा कर दिया है जैसे, जिन्ह कइ रही भावना जैसी । पर बोलचाल में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है । इतना है कि कर का प्रयोग सर्वनामों के आगे अधिकतर करते हैं जैसे, एकर, ओकर या यहि कर, वहि कर, इनकर, उनकर इत्यादि । अवधी

के रूप लघ्वंत हैं इससे 'आपन', 'हमार', 'तुम्हार', आदि के स्त्री रूपों में भी (आपनि, हमारि, तुम्हारि) 'इ'कार उतना स्पष्ट नहीं रहता। 'केर' केवल पच्छिमी अवधी में है और इसमें लिंगभेद साफ है। इसी का बैसवाड़ी रूप 'क्यार' है—जैसे, "मनियादेउ महोबे क्यार"। 'केर' का व्रज रूप यद्यपि 'केरो' है पर खास व्रजमंडल के भीतर यह अब सुनने में नहीं आता। प्राकृत में भी यह संबंधाच्छि अपने पूरे लिंगभेद के साथ मिलता है—पुं० केरओ, स्त्री० केरिआ, न० केरअं या केरउँ। पुं० केरो, केरु; स्त्री० केरी; न० केरं। 'केरओ' आदि रूप पुराने हैं, उ०—एसोक्खु अलंकारओ अज्जाए केरओ (मृच्छ०)=यह अलंकार आर्या का है। पिछले पुं० रूप 'केरो' और 'केरु' हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीर्घात रूप 'केरो' व्रज और लघ्वंत रूप 'केरु' अवधी है। यह 'केर' या 'केरो' सं० 'कृत' से निकला हुआ माना गया है।

व्यक्तिवाचक के अतिरिक्त और सर्वनामों के रूप अवधी में इस प्रकार हैं। यह=यह (पच्छिमी अवधी), ई (पूरबी), (बहु० ये—ए)। वह=वह (पाच्छिमी अवधी), ऊ (पूरबी); 'सो' (पच्छिमी अवधी), से, तौन, ते (पूरबी), (बहु० वै, ते—वै, ते)। जो=जो (पच्छिमी अवधी); जे, जौन (पूरबी अवधी); (बहु० जो—जे)। कौन=को (पच्छिमी अवधी); के, कौन (पूरबी अवधी); (बहु० को—के)। इनमें से पूरबी 'जौन', 'तौन', और 'कौन' जड़ पदार्थों के लिए अथवा व्यक्ति के संबंध

में लघुत्व सूचित करने के लिए आते हैं जैसे, जौन कुछ पावा तौन दै दीन । साहित्य की अवधी में 'ई' और 'ऊ' के स्थान पर 'यह', 'वह' अथवा 'सो' का प्रयोग अधिकतर मिलता है, उ०—
 (क) मुनि न होइ यह निसिचर घोरा । (ख) तुई सुरंग सूरत वह कही-जायसी । पच्छिमी अवधी कारकाचिह्न ग्रहण करने के पूर्व ब्रज के समान इनके रूप क्रमशः 'या', 'वा', 'ता', 'जा' और 'का' कर लेती है, जैसे, जितिहहिं राम न संसय या महाँ । पर पूरबी या शुद्ध अवधी पुराने सामान्य विभक्तियुक्त रूप एहि, ओहि, तेहि, जेहि, केहि रखती है, जैसे, एहि कर, ओहि कर; एहि काँ, ओहि काँ, जेहि काँ, तेहि काँ इत्यादि ।

रामायण, पद्मावत आदि में विभक्ति के रूप में अथवा वर्तमान, भविष्यत् और आज्ञा विधिसूचक क्रियापदों के अंत में 'हि' 'हिं' या 'हु' 'हुँ'—रामहिं, उनहिं, तिनहिं, जाहिं, करहिं, करिहहि, करिहि, करहु, चलहु—देखकर लोग इन्हें अवधी का चिह्न समझा करते हैं । पर ये रूप न तो बोल चाल की अवधी के हैं, न ब्रज के । ये प्राकृत या अपभ्रंश काल के रूप हैं जिनको कविपरंपरा रक्षित रखती आई है । संज्ञाशब्दों से तो 'हि' विभक्ति के 'ह' को घिसे बहुत दिन हुए; सर्वनामों में यह कुछ बनी हुई है—जैसे, कारकाचिह्नों के योग में 'एहि सन, ओहि माँ, जेहि कर' आदि में और ब्रज के 'जाहि, ताहि, वाहि' में प्रत्यक्ष रूप में और ब्रज और अवधी के इन्हें, उन्हें, जिन्हें तथा खड़ी बोली के इन्हें, उन्हें, जिन्हें में

परोक्ष रूप में। इसी प्रकार 'आवै', 'जायँ', 'करै', 'करिहै', 'चलौ' जैसे आज ब्रज और अवधी दोनों में बोले जाते हैं वैसे ही सूर और तुलसी के समय में भी बोले जाते थे—'आवहिं', 'जाहिं', 'करहिं', 'करिहहिं', 'चलहु' कोई नहीं बोलता था। जब कि एक ही कवि ने अपनी कविता में एक ही शब्द को दो रूपों में लिखा है जिनमें से एक रूप तो आजकल भी ज्यों का त्यों है और दूसरा रूप अब नहीं है पर उस कवि से बहुत पहले भी मिलता है तब यह एक प्रकार से निश्चित है कि उसके समय की बोलचाल में पहला ही रूप था दूसरा रूप उसने प्राचीनों के अनुकरण में लिखा है।

इसी प्रकार 'गयउ', 'भयउ', 'दीन्हेउ', 'लीन्हेउ', 'कियउ' इत्यादि अवधी के रूप नहीं हैं, पच्छिमी अपभ्रंश के पुराने रूप हैं जिनसे ब्रजभाषा के 'गयो', 'भयो', 'दीन्हो', 'लीन्हो', 'कियो' इत्यादि रूप बने हैं।

प्रथम पुरुष की भूतकालिक क्रियाएँ 'ओ' या 'औ' (अ + उ) कारांत अवधी में नहीं हैं। अवधी में बहुवचन उत्तम पुरुष की सकर्मक भूतकालिक क्रिया और प्रथम पुरुष एकवचन की अकर्मक भूतकालिक क्रिया आकारांत होती है जैसे हम जाना, हम सुना, ऊ चला, घोड़ा दौरा, रावण हँसा इत्यादि। जहाँ पच्छिमी हिंदी की सकर्मक भूतकालिक क्रिया ली गई है वहाँ भी खड़ी बोली की तरह 'आकारांत' रूप रखा गया है, ब्रज की तरह ओकारांत नहीं, जैसे, रामकृपा करि चितवा जबहीं।—तुलसी।

आज्ञा और विधि में जहाँ खड़ी बोली में क्रिया का साधारण रूप आता है (जैसे, तुम आना) वहाँ अवधी में धातु में 'यो' लगता है, व्रजभाषा के समान 'इयो' नहीं—जैसे, तुम (या तूँ) आयो, जायो, कह्यो, दिह्यो, चल्यो इत्यादि ।

अवधी भाषा के काव्यों पर टीका लिखने का प्रयत्न उन्हीं लोगों को करना चाहिए जो उसके स्वरूप को पहचानते हैं और उसके शब्दों से परिचित हैं नहीं तो “रोटी लूंगा” (=रोटी कपड़ा, पंजा० लुंगी, राज० लूगड़ी लूगड़ा) का अर्थ “रोटी लूंगा” लिखने की नौबत आ जाती है। अवधी काव्य की परंपरा बहुत पुरानी है पर अवधी वैसी व्यापक काव्य-भाषा न बन सकी जैसी व्रज। आख्यान-काव्य लिखने में जो सफलता अवधी के कवियों को हुई है वह व्रजभाषा के कवियों को नहीं। रामचरितमानस और पद्मावत ये दो काव्य तो बहुत प्रसिद्ध हैं पर इनके पहले के और पीछे के काव्य भी हैं—जैसे, मधुमालती, चित्रावली, इंद्रावती, मृगावती। रहीम का बरवै नायिकाभेद भी ठेठ अवधी में है। कबीर की भाषा मिली-जुली होने पर भी अधिकांश पूरबी ही है। अयोध्या के आस पास की पूरबी या शुद्ध अवधी का नमूना देखना हो तो बाबा रघुनाथदास का विश्रामसागर देखना चाहिए।

अवधी और व्रजभाषा के बीच जो थोड़े से भेद दिखाए गए वे पहचान के लिए बहुत हैं। इनके सहारे हम देख सकते हैं कि किस कवि ने भाषा के जीते जागते रूप को पहचानकर

चलती ब्रजभाषा का प्रयोग किया है और किसने अवधी के और कुछ पुराने रूपों को मिलाकर एक कृत्रिम सामान्य भाषा का आश्रय लिया है। अवधी और ब्रज में स्वरूप-भेद देखकर हम समझ सकते हैं कि दोनों का सौंदर्य अलग अलग है। एक में दूसरे का पुट देने से भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य में कुछ विघात पड़ता है। यद्यपि अवध और बुँदेलखंड में ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले अच्छे अच्छे कवि हुए हैं पर उन्होंने मिश्रभाषा का आश्रय जगह जगह लिया है। बुँदेलखंड की भाषा यद्यपि ब्रजभाषा ही है पर उसका लगाव उन प्रदेशों से बहुत दूर तक है जिनमें अवधी बोली जाती है। बघेलखंड की भाषा तो अवधी है ही। इधर फतहपुर और बाँदे तक अवधी चली गई है। नीचे ब्रजभाषा की कविता में अवधी या पूरबी प्रयोगों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) कहा रन मंडन मो **सन** आयो ।—केशव ।

(२) धिक तो **कहँ** जो अजहूँ तू जियै ।—केशव ।

(३) माता पिता कवन कौनहि कर्म **कीन** ?

विद्याविनोद सिख, कौनहि अरु **दीन** ?—केशव ।

(४) पुत्र ! हौँ विधवा करी तुम कर्म **कीन** दुरंत ।—केशव ।

(५) रामहि राम कहै रसना, **कस** ना तु भजै रस नाम
सही को ।—पद्माकर ।

(६) सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै
सुख साधा ।—पद्माकर ।

(७) जो बिहँसै मुख सुंदर तौ मतिराम बिहान को
बारिज लाजै ।—मतिराम ।

(८) बसननि तानि के वयारि वारियतु है ।—मतिराम ।

(९) जा कहँ जासह हेतु नहीं कहिए सु कहा तिहिकी
गति जानै ।—दास ।

(१०) हिम्मत यहाँ लगि है जाकी भट-जोट में ।—भूषण ।

(११) जमुनाजल को जात ही डगरी गगरी-जाल—दास ।

(ब्रज 'गागर' होगा)

(१२) दौरि दौरि जेहि तेहि लाल करि डारति है ।
—दास ।

(१३) निकस्यो भरोखा है कै बिगस्यो कमलसम ।—
कालिदास । (ब्रज में 'भरोखे' होगा)

(१४) छंद भरे में एक पद ध्वनि प्रकास करि देइ ।
—दास ।

(१५) भालु-कपि-कटक अचंभा जकि ज्वै रह्यो ।—दास ।
(ब्रज 'अचंभो' होगा)

(१६) आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब
सीस धुन्यो करै ।—आलम ।

यह तो अवधी का मेल हुआ, अब खड़ी बोली की शान
देखिए—

मंद मंद गति साँ गयंद गति खोने लगी, बोने लगी
विप सो अलक अहि छोने सी । लंक नवला की कुच भारन
दुनौने लगी, **होने** लगी तनु की चटक चारु सोने सी । तिरछी
चितौनि में बिनोदनि **बितौने** लगी, लगी मृदु बातन सुधारस
निचोने सी ।—दास । (खड़ी, गँवारों के मुँह की)

बिहारी ने चलती ब्रजभाषा का ध्यान बहुत रखा है । उनकी
भाषा बहुत सुंदर है । पर पूरबी या अवधी प्रयोग उनकी सत-
सई में भी हैं—

(१) किती न गोकुल कुलबधू काहि न केइ सिख **दीन ?**

(२) नूतन विधि हेमंत ऋतु जगत जुराफा **कीन ।**

(३) देखि परे यौं जानिबी दामिनि घन **अंधियार ।**

(४) त्यौं त्यौं निपट उदार हू **फगुआ** देत बनै न (ब्रज रूप
'फाग' है)

इसी प्रकार बिहारी का 'सोनकिरवा' शब्द भी नितांत
पूरबी है । शायद ग्राम्यत्व प्रदर्शित करने के लिए बिहारी यह
शब्द लाए हों । पर ग्राम पूरब में ही नहीं होते, पच्छिम में भी
होते हैं । दास के भाषालक्षण के अनुसार कवियों ने 'खुस-
बोयन', 'दराज' आदि द्वारा भाषा कविता को गँवारू सा बना
दिया । ब्रजभाषा का कोई व्याकरण न होने से तथा अशिष्ट
और अशिक्षित लोगों के कवित्त सवैया कह चलने से वाक्य-
रचना और भी अव्यवस्थित तथा भाषा और भी बिना ठीक
ठिकाने की हो गई । कवियों का ध्यान भाषा के सौष्ठव और सफाई

पर न रह गया। शब्दलंकार की धुन रही। इससे च्युत-संस्कृति और ग्राम्यत्व दोष बहुत कुछ आ गया। भूषण कवि तक “भूखन पियासन हैं नाहन को निंदते” भनने में कुछ भी न हिचके। “अपि माषं मपं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्” का भी उचित से अधिक लाभ उठाया गया। ‘सु’ की भरती का तो कहना ही क्या है ! इधर सौ वर्ष से हिंदीगद्य में खड़ी बोली चल रही है पर उसकी भी कई बार यही दशा होते होते बची है। अभी बहुत दिन नहीं हुए बनारस के एक ज्योतिषी ने अपने गाँव में खूँटा गाड़कर उसे हिंदी भाषा का केंद्र ठहराया था और ‘ने’ के प्रयोग पर चकपकाकर “सूतते हैं” की हवा बहानी चाही थी।

पर यह न समझना चाहिए कि भाषा की परवा करनेवाले कवि हुए ही नहीं। रसखान और घनानंद ऐसे जीती जागती वाणी के कवियों को देखते कौन ऐसा कह सकता है ? ब्रज-भाषा के कवियों में ज़बान का अगर किसी ने दावा किया है तो घनानंद ने। यह दावा दुरुस्त भी है—

नेही महा **ब्रजभाषा-प्रवीन** औ सुंदरतान के भेद को जानै ।
भाषा-प्रवीन सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै ।

दूसरी प्राणप्रतिष्ठा

काव्यभाषा या ब्रजभाषा का दूसरा संस्कार राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा हुआ जिसमें भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भी कुछ योग दिया। पर जिस प्रकार इन महानुभावों से यह काम अनजान में हुआ उसी

प्रकार किसी ने इसके महत्त्व की ओर ध्यान भी नहीं दिया । राजा साहब ने बहुत पुराने पड़े हुए, व्यवहार से उठे हुए और आजकल के कानों को भद्दे लगनेवाले सड़े गले शब्दों को छाँटकर ब्रज की बोलचाल का निखरा हुआ माधुर्य दिखाया । उन्होंने ब्रजभाषा की कविता को फिर जीता जागता रूप दिया । उनका मेघदूत हाथ में लेकर जो

“थक जायगी दामिनि तेरी तिया बड़ी बेर लौं हास विलास करे । टिक लीजियो रात में काहू अटा जहँ सोवत होयँ परेवा परे”

पढ़ेगा वह उनकी भाषा की सफाई और सजीवता पर मोहित होगा ।

पंडित श्रीधरजी पाठक विद्यमान हैं जिनकी वाणी में ब्रजभाषा की जीती जागती कला जो चाहे वह प्रत्यक्ष देख सकता है—थोड़ा उनका ऋतुसंहार का अनुवाद आँखों के सामने लाए । ऐसी भाषा को देखते ब्रजभाषा को जो ‘ऐतिहासिक’ या ‘मरी हुई’ कहे उसे अपना अनाड़ीपन दूर करने के लिए दिल्ली भाड़ भोंकने न जाना होगा, मथुरा की एक परिक्रमा से ही काम चल जायगा ।

काशी,
रामनवमी }
१९७९

रामचंद्र शुक्ल

बुद्ध-चरित



प्रथम सर्ग



जन्म

दिक्पति चार अरूपलोक तर सदा विराजत,
जो या जग के बीच अटल अनुशासन साजत ।
तिनके तर है तुषितलोक जहँ जीव श्रेष्ठतर
त्रिगुण-सहस-दस वर्ष वास करि जनमत भू पर ।
रहे जबै या लोक बुद्ध भगवान् दयामय
जन्म चिह्न भे प्रगट पाँच तिनपै अति निश्चय ।
तुरत तिनहँ पहिचानि देवगण ने कीनी धुनि
“जैहँ जग-कल्याण हेतु भगवान् बुद्ध पुनि” ।
तब बोले भगवान् “जात हौं जग-सहाय हित
अब मैं अंतिम बार; भयो बहु बार जात तित ।
जन्म मरण सेा रहित होयहौं मैं औ वे जन
जे चलिहँ मम धर्म मार्ग पै हूँ निश्चल मन ।
शाक्यवंश में अवतरिहौं हिमगिरि दक्षिण-तट,
बसति धर्मरत प्रजा जहाँ नृप न्यायी उद्भट ।”

बाही निशि शुद्धोदन नृप की रानी माया
 सोई पति ढिग लखी स्वप्न में अद्भुत छाया ।
 देख्यो सपने में प्रवालद्युति निर्मल तारो,
 दीप्तिमान् षड् अंशु धरे अतिशय उजियारो,
 नभमंडल तें छूटि तासु ढिग दमकत आयो
 औ दहिनी दिशि आय गर्भ में तासु समायो,
 जासों लक्षित भयो एक मातंग मनोहर
 षड् दंतन सों युक्त छीर सम श्वेत कांतिधर ।
 जागी जब आनंद अलौकिक उर में छायो
 ऐसो जैसो काहु जननि ने कबहुँ न पायो ।

पूर्व ही प्रभात के प्रभा पुनीत जो छई
 अर्द्धमंडलांत भूमि भासमान है गई ।
 काँपिगे पहार, सिंधुनीर धीरता गह्वी;
 फूल भानु पाय जो खिलै, खिले अकाल ही ।

मोद की तरंग प्रेतलोक लौं गई बढ़ी,
 भानुज्योति अंधकार भेदि जाति ज्यों चढ़ी ।
 मंजु घोष होत “जीव होयँ जे जहाँ बहे
 आस कै उठै सुनै, पधारि बुद्ध हैं रहे” ।

लोक लोक में गई अपार शांति छाया है,
 फूलि ते रहे उमंग ना हिये समाय है ।

भूमि औ पयोधि पै समीर धीर जो बह्यो
और ही रह्यो कछू, न जात काहु पै कह्यो ।

भयो ज्यों ही भोर बहु दैवज्ञ बूढ़े आय
लगे भाखन स्वप्न को फल भूप सों हरखाय—
“कर्क बीच दिनेश हैं सब योग शुभ या काल
स्वप्न को फल परम सुंदर होयहै, नरपाल !

श्री महादेवी जायहैं सुत ज्ञानवान् अपार
जो साधिहै या जगत् के सब जीव को उपकार,
अज्ञान ते उद्धारिहै जो सकल मनुज-समाज,
ना तो सकल जग शासिहै जो करन चाहिहै राज ।”

गर्भ पूज्यो; उठी माया के हृदय यह बात
देवदह चलि पिता के घर लखौं शिशु नवजात ।
हूँ गयो मध्याह्न ताको लुंबिनीबन जात
शालतरु तर एक ठाढ़ी भई पुलकित गात ।

शिखर सम सो खरो सूधो बिटप परम विशाल
नवल किशलय धरे, सुरभित-सुमन-मंडित भाल ।
बुद्ध को आगमन ज्यों सब वस्तु रहीं जनाय ।
परयो आगम जानि बाहू को, उठ्यो लहराय ।

हेरि महिमा महादेवी पै सहित सम्मान ।
 हरी डार नवाय सुन्दर दियो तानि बितान ।
 भूमि सहसा लाय सुमनन दई सेज सजाय ।
 न्हायबे हित ताहि सोतो विमल फूटो आय ।

कियो रानी ने प्रसव बिनु पीर शिशु अवदात
 बुद्ध के बत्तीस लक्षण रहे जाके गात ।
 पहुँचिगो संवाद शुभ प्रासाद में तब जाय ।
 लेन तिनको गई चित्रित पालकी चट आय ।

मेरु तें चलि आय बाहक बने सब दिक्पाल
 कर्म प्राणिन के लिखत जे रहत हैं सब काल ।
 पूर्व को दिक्पाल आयो, जासु अनुचर-जाल
 रजत अंबर धवल धारे, लिए मुक्ता ढाल ।

चल्यो दक्षिणपाल लै कुंभाङ्गण की भीर,
 नील वाजिन चढ़े, नीलम ढाल साजे बीर ।
 चल्यो पश्चिमपाल जाके नागगण हैं संग
 गहे ढाल प्रवाल की, औ चढ़े रक्त तुरंग ।

घेरि उत्तरलोकपालहिं कनकमंडित गात
 पीत हय पै स्वर्ण ढालन सजे यक्ष लखात ।
 शक्तिधर सब देव आए अलख वैभव संग;
 पालकी पै दियो कंध लगाय सहित उमंग ।

रहे वाहक रूप में कोउ तिन्हें जान्यो नाहिं ।
 देवगण वा दिवस बिचरे मिले मनुजन माहिं ।
 रह्यो स्वर्ग उछाह सों भरि गुनि जगत कल्यान,
 जानि यह नरलोक में पुनि अवतरे भगवान ।

नृप यह जान्यो नाहिं रही चिन्ता चित व्यापी ।
 कह्यो गणकगण आय, “पुत्र यह परम प्रतापी
 चक्रवर्त्ति यह सोइ भूमि भोगन जीवन भर
 आवत है जो प्रति सहस्र वत्सर या भू पर ।
 सात रत्न यहि सुलभ—प्रथम है चक्ररत्न वर,
 अश्वरत्न जो भरि गुमान पग धरत मेघ पर;
 हस्तिरत्न हिम सरिस श्वेत वाहन सुन्दर अति;
 नीतिविशारद सचिव तथा दुर्जय सेनापति;
 भार्य्या अनुपम रूपवती युवती सुकुमारी,
 रमणीरत्न अमोल उषा सों बढ़ि उजियारी” ।
 सुनि सुत-वैभव नृपति हरषि अनुशासन फेरो ।
 ‘उत्सव और उछाह नगर में होय घनेरो’ ।

सब बाट जाति बहारि, चंदननीर छिरको जात है ।
 दमकत द्रुमन पै दीप, फहरत केतु बहु दरसात हैं ।
 सजि सूर खाँड़े धारि कर में करत आसन पैतरे ।
 नट इंद्रजालिक-खेल देखत लोग कहूँ अचरज भरे ।

कहुँ नर्त्तकी चुनि चूनरी, पग घूँघरू भनकारतीं,
निज चपल चरनन के चहूँ दिशि मंद हास उभारतीं ।
तीतर बटेर बटोरि कोऊ कतहुँ रहे लड़ाय हैं ।
बैठे मदारी कतहुँ मर्कट भालु रहे नचाय हैं ।

इत भिरत मोटे मल्ल नाना दाँव पेच दिखाय कै ।
उत वाद्यकार मृदंग ढोल बजाय साज मिलाय कै
आलाप छाँड़त बीन की भनकार मंजु उठाय हैं,
यों देत रसिक-समाज को बदि बदि हियो हुलसाय हैं ।

बहु बणिक आए दूर तें संवाद शुभ यह पायकै
लै भेंट की बहु वस्तु सुंदर कनक थार सजायकै—
कौशेय अंशुक चीन के, नव शाल बहु कश्मीर के,
मणि पुष्पराग, प्रवाल, मोती सुघर सागर तीर के ।

सुंदर खिलौनन के मनोहर मेल कहुँ सोहत धरे;
घनसार, कुंकुम, अगर, मृगमद, भार चंदन के भरे ।
कोउ धरत अंबर धूपछाँह सुरंग भीने लाय हैं,
नहिं जासु बारह पत्त सकत सलज्ज वदन छपाय हैं ।

सारी किनारी जासु मोतिन सौं जरी अति भलभली,
अति भव्य भूषण, वसन, भाजन, फलन फूलन की डली,
बहु भेंट पठवत करद पुर, सब भवन भूपति को भरो ।
‘सिद्धार्थ’ वा ‘सर्वार्थसिद्ध’ कुमार नाम गयो धरो ।

आए अपरिचित जनन में ऋषि असित परम पुनीत
 संसार सेाँ फिरि श्रवण जिनके सुनत सुर-संगीत;
 अश्वत्थ तर बैठे रहे जो धरे अपनो ध्यान;
 तहँ बुद्ध-जन्म-उछाह को सुमि परथां नभ में गान ।

सोहत पुराणप्रवीण पूर्ण प्रकार तपबल पाय ।
 सम्मान सेाँ नियराय नरपति परे पाँयन जाय ।
 उत महारानी आय पाँयन पै दियो सिसु डारि;
 पै देखि ताहि मुनीश चरनन टारि उठे पुकारि—

“हे देवि ! करती कहा ?” पुनि शिशु-चरनरज सिर लाय
 मुनि कह्यो “हौ तुम सोइ बंदन करत हैँ सिर नाय ।
 मृदु ज्योति लसति अपूर्व, स्वस्तिक चिह्न सो दरसात,
 बत्तीस लक्षण मुख्य, अनुव्यंजन असी अवदात ।

हौ बुद्ध; धर्म सिखाय करिहौ लोक को उद्धार;
 अनुसरण करिहैं जीव जे ते होयहैं भव पार ।
 तब ताँई रहिहौ नाहिं, मेरी अवधि गइ नियराय ।
 तन राखि करिहौ कहा हूँ कृतकृत्य दर्शन पाय ?

भूपाल परम सुजान ! जानौ कली है यह सोय
 कल्पांत में कहुँ एक बार विकाश जाको होय;
 जग ज्ञान-सौरभ, प्रेम के मकरंद सेाँ भरि जाय;
 तव राजकुल में आज यह अरविंद फूट्यो आय ।

।। भवन को अति भाग्य ! पै कछु दुःख हू दरसात ।
 नृप ! तुम्हें या सुत हेतु परिहै सहन हिय आघात ।
 हे देवि ! सुर नर प्रिय भई यह गर्भ धरि जग माहिं;
 भवताप भोगै और तू अब हूँ सकत यह नाहिं ।

क्लेशरूप यह जीवन जो सो नहिँ रहि जैहै ।
 सात दिवस में करि याको तू अंत सिधैहै ।”

सातवें दिन भई वाणी सत्य, निज गृह माहिं
 राति सुख सों सोय रानी फेरि जागी नाहिं ।
 त्रयस्त्रिंशस् स्वर्ग में सो जाय लियो निवास
 देवगण जहँ रहत सेवा में खड़े चहुँ पास ।

महा प्रजावति लागी पालन शिशु सुखकारी;
 सींचन लागी कंठ सकल-जग-मंगलकारी ।

शिक्षा

आठ वर्ष के भे कुमार जब नृप मन माहिं विचारो,
 राजकुमारहिं चाहिय पढ़ावन राजधर्म अब सारो ।
 चमत्कार गुनि सकल महीपति आगम-कथन विचारै;
 चाहत नहिँ हूँ बुद्ध पुत्र मम जग में ज्ञान पसारै ।
 भरी सभा के बीच एक दिन भूपति बैठ्यो जाई ।
 पूछ्यो सब मंत्रिन सों अपने सादर निकट बुलाई

“कहौ, सचिववर ! कौन नरन में अति विद्वान् कहावै;
 राजपुत्र के जोग सकल गुण जो मम सुतहिं सिखावै ।”
 कह्यो एक स्वर सों सब मिलि कै “सुनौ, नृपति ! यह बानी,
 विश्वामित्र समान न कोऊ बुद्धिमान् औ ज्ञानी ।
 वेद-विषय-पारंगत सब विधि, शास्त्रज्ञान में रूरो,
 धनुर्वेद में चतुर लसत सो, सकल कला में पूरो ।”
 विश्वामित्र आय नृप आज्ञा सुनी, अमित सुख पायो ।
 शुभ दिन औ शुभ घरी माहिं पुनि कुँवर पढ़न को आयो ।
 रत्ननजरी रँगी चंदन की पाटी काँख दबाई
 लिए लेखनी गुरु समीप भे ठाढ़े दीठि नवाई ।
 तब बोले आचार्य्य “वत्स ! तुम लिखौ मंत्र यह सारो” ।
 यों कहि पावन गायत्री को मूल मंत्र उच्चारो
 धीमे स्वर सों, सुनै न जासों कोउ निषिद्ध नर नारी;
 सुनिबे के केवल हैं जाके तीन वर्ण अधिकारी ।

“लिखत अबै, आचार्य्य !” कुँवर बोल्यो विनीत स्वर ।
 लिख्यो अनेकन लिपिन मंत्र पावन पाटी पर ।
 ब्राह्मी, दक्षिण, देव, उग्र, मांगल्य, अंग लिपि,
 दरद, खास्य, मध्याक्षर-विस्तर, मगध, बंग लिपि,
 औ खरोष्ट्री, यक्ष, नाग, किन्नर, सागर पुनि
 लिखि दिखराए कुँवर सबन के अक्षर चुनि चुनि ।
 मग शक आदिक के अक्षर हू छूटे नाहीं,

सूर्य्य अग्नि की जो उपासना करत सदाहीं ।
 बोलिन में बहु चल्यो मंत्र सावित्री पुनि भनि
 कह्यो गुरु "बस करौ, चलो अब तो गनती गनि ।
 कहत चलौ मम साथ नाम संख्यन को तौलौं
 पहुँचि जायँ हम, कुँवर ! लाख पर्य्यत न जौ लौं ।
 कहत एक, द्वै, तीन, चार तें दस लौं जाओ,
 दस तें सौ लौं, पुनि सौ तें चलि सहस गनाओ ।"
 ता पाछे गनि गयो कुँवर एकाइ दहाई,
 शत सहस्र औ अयुत लक्ष लौं पहुँच्यो जाई,
 गनत गयो कहुँ रुक्यो नाहिँ सो कुँवर सयानो
 "ताके आगे प्रयुत कोटि औ अर्बुद मानो ।
 पद्म, खर्व औ महाखर्व औ महापद्म पुनि ।"
 असंख्येय लौं गनत गयो, सुनि चकित भए मुनि ।
 बोले मुनि "है बहुत ठीक, हे कुँवर हमारे
 अब आयत परिमाण बताऊँ तुमको सारे" ।
 यह सुनि राजकुमार वचन बोल्यो विनीत अति
 "श्रवण करौ, आचार्य्य ! कहत हौँ सकल यथामति ।
 दस परमाणुन को मिलाय परिसूक्ष्म कहत हैं
 जोरे दस परिसूक्ष्म एक त्रसरेणु लहत हैं ।
 देत सप्त त्रसरेणु-योग अणु एक बनाई॥
 भवनरंघगत रविकर में जो परत लखाई ।

॥ यह मान वैशेषिक आदि में माने हुए मान से भिन्न है ।

सात अणुन को योग एक केशाग्र कहावत,
 जो दस मिलि कै लिख्या की हैं संज्ञा पावत ।
 दस लिख्या को एक यूक सब मानत आवैं ।
 दस यूकन को एक यवोदर सबै बतावैं ।
 दस जौ जोरे होत एक अंगुल यों मानत ।
 बारह अंगुल को वितस्त सिगरो जग जानत ।
 ताके आगे हस्त, दंड, धनु, लट्ठा आवैं ।
 लट्ठन को लै बीस श्वास दूरी ठहरावैं ।
 तेती दूरी श्वास होति जेती के बाहर
 एक साँस में चलो जाय बिनु थमे कोउ नर ।
 चालिस श्वासन की दूरी को गो ठहरावत ।
 होत चार गो को योजन यह सबै बतावत ।
 यदि आयसु तब होय कहौ अब मै, हे गुरुवर !
 केते अणु अँटि सकत एक योजन के भीतर ।”
 यों कहि तुरत कुमार दियो अणुयोग बताई ।
 सुनतहि विश्वामित्र परे चरनन पै जाई ।
 बोले मुनि “तू सकल गुरुन को गुरु जग माहीं ।
 तू मेरो गुरु, मैं तेरो गुरु निश्चय नाहीं ।
 बंदत हैं, सर्वज्ञ कुँवर ! तेरो पद पावन;
 मम चटसारहि आयो तू केवल दरसावन—
 बिनु पोथिन ही सकल तत्त्व तू आपहि छानत;
 तापै गुरुजन को आदर हू पूरो जानत ।”

करत श्री भगवान गुरुजन को सदा सम्मान;
वचन कहत विनीत यद्यपि परम ज्ञाननिधान ।
राजतेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार;
हृदय परम सुशील कोमल, यदपि शूर अपार ।

कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिँ
साहसी असवार तिन सम कोउ निकसत नाहिँ ।
राजभवन समीप कबहुँ होड़ जो लगि जाय
रथ चलावन माहिँ कोऊ तिन्हैँ सकत न पाय ।

करत रहत अहेर सहसा ठिठकि जात कुमार;
जान देत कुरंग को भजि, लगत करन विचार ।
कबहुँ जब घुरदौर में हय हाँफि छाँड़त साँस,
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास,

लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि
जीति आधी कुँवर बाजी खोय देतो जानि ।
बढ़त ज्योँ ज्योँ गयो प्रभु को वयस् लहि दिन राति
बढ़ति दिन दिन गई तिनकी दया याही भाँति ।

यथा कोमल पात द्वै ते' होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौ बहु जो गए कछु काल ।
किंतु जानत नाहिँ अब लौ रह्यो राजकुमार
क्लेश, पीड़ा, शोक काको कहत है संसार ।

इन्हें ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिँ
राजकुल में कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिँ ।

एक दिवस वसंत ऋतु में भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सोँ हूँ हंस उड़ि कै जात ।

जात उत्तर ओर निज निज नीड़ दिशि ते धाय,
शुभ्र हिमगिरि-अंक में जो लसत ऊपर जाय ।
प्रेम के सुर भरत, बाँधे धवल सुंदर पाँति
उड़े जात विहंग कलरव करत नाना भाँति ।

देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि ।
जाय बैठ्यो पंख में सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार ।

गिर्यो खग भहराय, तन में बिध्यो विशिख कराल;
रक्तरंजित हूँ गयो सब श्वेत पंख विशाल ।
देखि यह सिद्धार्थ लीनो धाय ताहि उठाय,
गोद में लै जाय बैठ्यो पद्म-आसन लाय ।

फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को यों दियो धीर धराय ।
नवल कोमल कदलिदल सम करन सोँ सहराय,
प्रेम सोँ पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय ।

खैचि लीनो निठुर शर करि यन्न बारंबार ।
 घाव पै धरि जड़ी बूटी कियो बहु उपचार ।
 देखिबे हित पीर कैसी होति लागे तीर
 लियो कुँवर धँसाय सो शर आप खोलि शरीर ।

चौकि सो चट पर्यो पीरा परी दारुण जानि;
 छाथ नयनन नीर खग पै लग्यो फेरन पानि ।

पास ताके एक सेवक तुरत बोल्यो आय
 “अबै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय ।

गिर्यो पाटल बीच बिधि कै ठौर पै सो याहि ।
 मिलै मोको, प्रभो ! मेरो कुँवर माँगत ताहि ।”
 बात ताकी सुनत बोल्यो तुरत राजकुमार
 “जाय कै कहि देहु दैहैं नाहिँ काहु प्रकार ।

मरत जो खग अवसि पावत ताहि मारनहार;
 जियत है जब तासु तापै नाहिँ कछु अधिकार ।
 दियो मेरे बंधु ने बस तासु गति को मारि
 रही जो इन श्वेत पंखन की उठावनहारि ।”

देवदत्त कुमार बोल्यो “जियै वा मरि जाय,
 होत पंछी तासु है जो देत बाहि गिराय ।
 नाहिँ काहू को रह्यो जौ लौं रह्यो नभ माहिँ;
 गिरि पर्यो तब भयो मेरो, देत हौ क्यों नाहिँ ?”

लियो तब खगकंठ को प्रभु निज कपोलन लाय
 पुनि परम गंभीर स्वर सेँ कह्यो ताहि बुझाय
 “उचित है यह नाहिं जो कछु कहत हौ तुम बात,
 गयो हूँ यह विहग मेरो, नाहिँ दैहौँ, तात !

जीव बहु अपनायहौँ या भाँति या संसार
 दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार ।
 दयाधर्म सिखायहौँ मैं मनुजगन को टेरि;
 मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौँ हेरि ।

रोकिहौँ भवताप की यह बढ़ति धार कराल
 परे जामें मनुज तेँ लै सकल जीव बिहाल ।
 किंतु चाहै कुँवर तो चलि विज्ञजन के तीर
 कहैं अपनी बात, चाहैँ न्याय धरि जिय धीर ।”

भयो अंत विचार नृप के सभामंडप माहिँ ।
 कोउ ऐसो कहत, कोऊ कहत ऐसो नाहिँ ।
 कह्यो याही बीच उठि अज्ञात पंडित एक
 “प्राण है यदि बस्तु कोऊ करौ नैकु विवेक;

जीव पै है जीवरक्षक को सकल अधिकार,
 स्वत्व वाको नाहिँ चाह्यो बधन जो करि वार ।
 बधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार;
 हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार” ।

लग्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान ।
 भई मुनि की खोज, पै सो भए अंतर्धान ।
 ब्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिं;
 देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिँ ।

दया के शुभ कार्य को आरंभ याहि प्रकार
 कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार ।
 छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
 और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत ।

कह्यो नृप एक वसंत के वासर “वत्स ! चलौ पुर बाहर आज
 जहाँ सुखमा सरसाति घनी, धरती अपनो धन खोलि अनाज
 बिछावति काटनहार समीप; चलौ अपनो यह देखन राज
 भरै नृप के नित कोषहिं जो, चलि आवत पालत लोकसमाज ।”

चढ़े रथ पै दोउ जात चले, बन, बाग, तड़ाग लसैं चहुँ ओर ।
 लसे नव पल्लव सों लहरैं लहि कै तरु मंद समीर-भूकोर ।
 कहूँ नव किंशुकजाल सों लाल लखात घने बनखंड के छोर ।
 परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल रोर ।

लिपे खरिहानन में सुथरे पथपार प्यार के दूह लखात ।
 मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहिँ समात ।
 भरी छबि सो छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बात ।
 चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात ।

लदे कलियान और फूलन सेँ कचनार रहे कहुँ डार नवाय ।
 भरो जहँ नीर धरा रस भीजि कै दीनी है दूब की गोठ चढ़ाय ।
 रह्यो कलगान बिहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सेँ आय ।
 कदँ लघु जंतु अनेक, भगै पुनि पास की भाड़िन को भहराय ।

डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय ।
 भागत भाड़िन सेँ कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय ।
 बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोँच चलाय चलाय ।
 धावत हैं धरिबे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय ।

कूकि उठै कबहूँ कल कंठ सेँ कोकिल कानन में रस नाय ।
 गीध गिरै छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँड़राय ।
 श्यामल रेख धरे तन पै इत सेँ उत दौरि कै जाति गिलाय ।
 निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय ।

चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय ।
 ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय ।
 वस्तुन सेँ सब शांति समृद्धि रही बहु रूपन में दरसाय ।
 देखि इतो सुख-साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरखाय ।

सूक्ष्म रूप सेँ पै वाने कीनो विचार जब
 देखे जीवन कुसुम बीच कारे कंटक तब ।
 कैसो दीन किसान पसीनो अपनो गारत ।
 केवल जीयन हेतु कठिन श्रम करत न हारत ।

गोदि लकुट सों दीर्घबिलोचन बैलन हाँकत ।
 जरत घाम में रहत धूरि खेतन की फाँकत ।
 देख्यो फेरि कुमार खात दादुर पतंग गहि ;
 सर्प ताहि भखि जात, मोर सों बचत सर्प नहि ।
 श्यामा पकरत कीट, बाज भपटत श्यामा पर ;
 चाहा पकरत मीन, ताहि धरि खाय जात नर ।
 यों इक बधिकहिँ बधत एक, बधि जात आप पुनि ;
 मरण एक को दूजे को जीवन, देख्यो गुनि ।
 जीवन के वा सुखद दृश्य तर ताहि लखानो
 एक दूसरे के बध को षट्चक्र लुकानो ।
 परे कीट तें लै मनुष्य जामें भ्रम खाई ।
 चेतन प्राणी मनुज बधत सो बंधुहिँ जाई ।
 भूखे दुर्बल कृषक बैल को नाधि फिरावत ;
 जूए सों छिलि जात कंध पै मनहिँ न लावत ।
 जीबे की धुन माहिँ जगत् के जीव मरत लरि ।
 लखि यह सब सिद्धार्थ कुँवर बोल्यो उसास भरि—
 “लोक कहा यह सोइ लगत जो परम सुहावन,
 अवलोकन हित जाहि पर्यो मोकेँ ह्याँ आवन ?
 कड़े पसीने की किसान की रूखी रोटी ;
 कैसो कड़वो काम करति बैलन की जोटी !
 सबल निबल को समर चलत जल थल में ऐसो !
 हँ तटस्थ ठुक धरौँ ध्यान, देखौँ जग कैसो ।”

यों कहि श्रीभगवान् एक जम्बू तर जाई
 बैठे मूर्ति समान अचल पद्मासन लाई ।
 लागे चिंतन करन, महा भवव्याधि भयंकर !
 कहा मूल है याको औ उपचार कहाँ पर ?
 उमगी दया अपार, प्रीति पसरी जीवन प्रति ;
 क्लेश निवारण को जिय में अभिलाष जग्यो अति ।
 ध्यानमग्न हैं गयो कुँवर यों मनन करत जब
 रही न तन सुधि, आत्मभाव बहि गए दूर सब ।
 लह्यो चतुर्विध ध्यान तहाँ भगवान् बुद्ध तब,
 धर्म मार्ग को कहत प्रथम सोपान जाहि सब ।

पंचदेव तिहि काल रहे कहुँ जात सिधाए ;
 तिनके रुके विमान जबै तरु ऊपर आए ।
 परम चकित हैं लागे बूझन ताकि परस्पर
 “कौन अलौकिक शक्ति हमै” खँचति या तरु तर ?”
 गई दीठि जो तरे परे भगवान् लखाई ;
 ललित ज्योति सिर लसत, विचारत लोक भलाई ।
 चीन्हि तिन्हें ते देव लगे शुभ गाथा गावन—
 “तापशमन हित मानसरोवर चाहत आवन ;
 नाशन हित अज्ञानतिमिर दीपक जगिहै अब
 मंगल को आभास लखौ हैं मुदित लोक सब ।”

खोजत खोजत एक दूत नृप को तहँ आयो ;

पहुँच्यो वाही ठौर कुँवर जहँ ध्यान लगायो ।
 पहर तीसरो चढ़्यो ध्यान नहिँ भंग भयो पर ।
 अस्ताचल की ओर बढ़े भगवान् भास्कर ।
 छाया घूमीँ सकल ; किंतु जामुन की छाहीँ
 रही एक दिशि अड़ी, टरी प्रभु पर तें नाहीँ ;
 जामें प्रभु के पावन सिर पै परै न आई
 रवि की तिरछी किरन, ताप प्रभु ओर बढ़ाई ।
 लख्यो दूत यह चरित हिये अति अचरज मानी ।
 जामुन की मंजरिन बीच फूटी यह बानी—
 “रहिहै इनके हृदय ध्यान की छाया जौ लौ
 नाहिँ सरकिहै कतहुँ हमारी छाया तौ लौ ।”

द्वितीय सर्ग



राजा की चिंता

वर्ष अठारह पार भए भगवान् बुद्ध जब
तीन भवन बनिबे की आज्ञा नृपति दई तब—
बनै एक तो देवदार सों मढ्यो भव्य अति
शीतकाल मेँ होय शीत की नहिँ जामेँ गति ;
बनै श्वेत मर्मर को दूजो दमकत उज्ज्वल,
ग्रीष्मकाल में बास-जोग सुथरो औ शीतल ;
लाल ईंट को बनै तीसरो भवन मनोहर,
पावस ऋतु के हेतु खिलै चंपक जब सुंदर ।
तीन हर्म्य ये-शुभ्र, रम्य तीजो सुरम्य पुनि—
राजकुमार निमित्त भए निर्मित तहँ चुनि चुनि ।
तिनके चारों ओर खिले उपवन मन मोहत,
नारे घूमत बहत, बिटप वीरुध बहु सोहत ।
सघन हरियरी माहिँ लतामंडप बहु छाए ।
जिनमेँ कबहूँ कुँवर जाय बैठत मन भाए ।
नव प्रमोद आमोद ताहि बिलमावत छिन छिन ;
पाय तरुण वय रहत सदा सुख सों बितवत दिन ।

कबहुँ कबहुँ पै छाया जाति चिंता चित माहीं ;
मानस-जल भँवराय पाय ज्यों बादर छाहीं ।

देखि लक्षण ये महीपति कह्यो सचिव बुलाय—
“ध्यान है जो कहि गए ऋषि औ गणकगण आय ?
प्राण तें प्रिय पुत्र यह जग जीति करिहै राज ;
सकल अरिदल दलि कहैहै महाराजधिराज ।

नाहिँ तौ पुनि भटकिहै तप के कठिन पथ माहिँ ;
खोय सर्वस पायहै सो कहा जानै नाहिँ ।

लखत तासु प्रवृत्ति हम या ओर ही अधिकाय
विज्ञ हौ तुम देहु मोकोँ मंत्र सोइ बताय

उच्च पथ पग धरै जासों कुँवर सजि सुख साज ;
घटैं लक्षण सत्य सब, सो करै भूतल राज” ।

रह्यो जो अति श्रेष्ठ बोल्यो बचन सीस नवाय
“प्रेम है सो वस्तु जो यह रोग देय छुड़ाय ।
कुँवर के या परम भोरे हृदय पै, नरराय !
तियन के छल छंद को चट देहु जाल बिछाय ।

रूप को रस कहा जानै अबै कुँवर अजान,
चपल चख चित मथनहारे, अधर सुधा समान ।
देहु वाको कामिनी करि चतुर सहचर साथ ;
फेरि देखौ रंग अपने कुँवर को, हे नाथ !

लोह-सीकड़ सेँ नहीं जो भाव रोको जाय
कुटिल कामिनि-केश सेँ सो सहज जात बँधाय” ।

कह्यो नृप “यदि खोजि युवती करें याको ब्याह ;
प्रेम की कछु परख औरै औ निराली चाह ।
यदि कहैं हम ताहि ‘हे सुत ! रूप उपवन जाय
लेहु चुनि सो कली जो सब भाँति तुम्हैं सुहाय’

परम भरो बिहँसि कै सो बात दैहै टारि ।
भागिहै आनंद सेँ जिहि सकत नहिं जिय धारि”

कह्यो दूसरो सचिव “नृपति यह समुझि लेहु मन,
तौ लौं कूदत है कुरंग जौ लौं शर खात न ।
कोउ मोहिहै अवसि ताहि जानौ यह निश्चय
काहू को मुख ताहि स्वर्ग सम लगिहै सुखमय ।
रूप उषा सेँ उज्ज्वल कोऊ लगिहै ताको ,
आय जगावति जो प्रति दिन सारी वसुधा को ।
रचौ सात दिन में ‘अशोक उत्सव’, नृप ! भारी
होयँ जहाँ एकत्र राज्य की सकल कुमारी ।
बाँटै कुँवर ‘अशोक भांड’ सबको प्रसन्न मन
रूप और गुन करतब तिनके निरखै नयनन ।
लै लै निज उपहार जान जब लगैं कुमारी,
छिपि कै देखत रहै तहाँ कोऊ नर नारी

काके ऊपर कुँवर आपनी दीठि गड़ावै,
 काकी चितवन मिले उदासी मुख की जावै ।
 चुनै प्रेम के नयन प्रेयसी आपहि जाई ।
 रसबस करि कै कुँवरहिं हम यों सकत भुलाई ।”
 भली लगी यह बात, युक्ति सब के मन भाई ।
 तुरत राज्य में नरपति ने डौड़ी फिरवाई—
 “राजभवन में आवैं सुंदरि सकल कुमारी ;
 है ‘अशोक उत्सव’ की कीनी नृपति तयारी ।
 निज कर सों उपहार बाँटिहै श्रीकुमार कढ़ि ;
 पैहै वस्तु अमोल निकसिहै जो सब सों बढ़ि ।”

प्रेम

नृपद्वार कुमारि चलीं पुर की, अँगराग सुगंध उड़ै गहरी,
 सजि भूषण अंबर रंग विरंग, उमंगन सों मन माहिँ भरी ।
 कवरीन में मंजु प्रसून गुच्छे, दृगकोरन काजर-लीक परी,
 सित भाल पै रोचनबिंदु लसै ; पग जावक-रेख रची उछरी ।

चलि कुँवर आसन पास सों मृदु मंद गति सों नागरी
 है कढ़ति कारे दीर्घ नयन नवाय भोरी छवि भरी ।
 बढ़ि राजतेजहु सों कछू तहँ हेरि ते हहरैं हिये
 जहँ लसत कुँवर विराग को मृदु भाव आनन पै लिये

जो निकसै अति रूपवती, सब लोग सराहत जाहि दिखाय
 सो चकि कै हरिनी सी खड़ी चट होय कुमार के सम्मुख आय—
 दिव्य स्वरूप, महामुनि सो सब भाँति अलौकिक जो दरसाय—
 लै अपनो उपहार मिलै पुनि कंपित-गात सखीन में जाय ।

पुर की कुमारी एक पै चलि एक यों पलटीँ जबै,
 दृष्ट्यो छटा को तार औ उपहार हू बँटिगो सबै
 ठाढ़ी भई तब आय कुँवर समीप दिव्य यशोधरा ।
 अति चकित हेरत रहि गयो सो स्वर्ग की सी अप्सरा ।

मृदु आनन पै लखि इंदुप्रभा अरविंद सबै सकुचाय परे ।
 शर हेरि प्रसून के नैनन में हरिनीन के नैनहु ना ठहरे ।
 पुनि जोरि कुमार सोँ दीठि चितै मुसकान कछू अधरान धरे
 “कछु पाय सकैं हमहूँ” यह पूछति भौहँन में कछु भाव भरे ।

मुनि कहत राजकुमार “अब उपहार तो सब बँटि गयो ;
 पै देत हौं जो नाहिँ अब लौँ और काहू कों दयो” ।
 चट काढ़ि मरकत माल वाके कंठ में नाई हरी ;
 तहँ नयन दोउन के मिले जिय प्रीति जासों जगि परी ।

बहुत दिनन में भए बुद्ध-पद-प्राप्त कुँवर जब
 बिनती करि बहु लोग जाय तिनसेँ पूछ्यो तब

“क्यों सहसा लखि गोपा को यों ढर्यो तासु चित” ;

कह्यो बुद्ध “हम रहे परस्पर नाहिं अपरिचित ।

बहुत जन्म की बात सुनौ जमुना के तट पर,

नंदादेवी को सोहत जहँ धवल शिखर वर,

एक अहेरी को कुमार मन मोद बढ़ाई ।

बनकन्यन के संग रह्यो खेलत तहँ जाई ।

बन्यो पंच सो ; ताहि प्रथम चलि छुवन विचारी

देवदार तर दौरैं हरिनी सरिस कुमारी ।

बनजूही सों देत काहु को भाल सजाई ;

नीलकंठ के पंख काहु को देत लगाई ;

औ गुंजा की माल काहु के गर में नावत ;

काहु को चुनि देवदार के दल पहिरावत ।

दौरी पाछे जो सबके सो आगे आई ।

मृगछौना दै एक ताहि सों प्रीति लगाई ।

सुख सों दोऊ रहे बहुत दिन लौं बन माहीं ।

बँधे प्रीति में दोउ अभिन्न-मन मरे तहाँहीं ।

देखौ ! जैसे बीज भूमि तर ढको रहत है,

फोरत अंकुर वर्षा की जब धार लहत है ;

याही विधि सब कर्मबीज पहले के भाई—

राग द्वेष, सुख दुःख, भलाई और बुराई—

प्रगटत हैं पुनि जब कबहूँ ते अवसर पावैं ;

औ मीठे वा कड़वे फल निज डारन लावैं ।

सोइ अहेरी को कुमार मोकेँ तुम मानौ,
है यशोधरा सोइ चपल वनकन्या, जानौ ।
जन्म मरण को चक्र भयो जौ लौं नहिं न्यारे,
आवन चाहै, रही बात जो बीच हमारे ।”

रहे कुँवर को भाव लखत जो उत्सव माहीं
जाय सुनायो नृप को सब, कछु छाँड्यो नाही ।
कैसे कुँवर विरक्त रह्यो बनि बैठो तौ लौं
सुप्रबुद्ध की यशोधरा आई नहिं जौ लौं ।
पलट्यो कैसो रंग कुँवर को ज्यों सो आई;
निरखन दोऊ लगे परस्पर दीठि मिलाई ।
रत्नहार दैबे की सारी बात गए कहि;
रहे प्रेम सों एक दूसरे को कैसे चहि ।

शस्त्र-परीक्षा

बोल्यो भूपति बिहँसि “वस्तु हमने सो पाई
रखि लैहै जो अवसि हमारो कुँवर फँसाई ।
पठै दूत अब माँगौ सो कन्या सुकुमारी;
सुप्रबुद्ध सों कहौ जाय यह बात हमारी” ।
रही रीति पै शाक्यगणन में जो न सकै टरि,
बड़े घरन की बरन चहै जो कन्या सुंदरि

शस्त्रकला में परै निपुणता ताहि दिखावन
 तिन सब सेाँ बढि जो जो चाहैं ताको पावन ।
 नृपगण हू बिपरीत रीति नहिं सकैं चलाई ।
 कह्यो कुँवरि को पिता “नृपति सेाँ बोलौ जाई
 दूर दूर के राजकुँवर हैं चाहत याको;
 सब सेाँ जो बढि सकैं कुँवर तो दैहैं ताको ।
 अस्त्र शस्त्र हयचालन में यदि सो बढि जैहै,
 वासेाँ बढि कै और कहाँ बर कोऊ पैहै ?
 पै देखत हैं ढीले ढंगन को वाके जब
 कैसे आशा करै होयहै वासेाँ यह सब ?”

भयो भूप अति दुखी लग्यो सोचन मन माहीं—
 “चहत कुँवर है यशोधरा को, संशय नाहीं ।
 कौन धनुर्धर नागदत्त सेाँ पै बढि मरिहै ?
 हय चालन में अर्जुन सम्मुख कौन ठहरिहै ?
 खड्ग युद्ध में वीर नंद सेाँ बढि काकी गति ?”
 सोचि सोचि महिपाल भयो मन में उदास अति ।
 देखि दशा यह बिहँसि कुँवर बोल्यो सुखकारी
 “सुनौ तात ! ये सकल कला हैं सिखी हमारी ।
 करौ घोषणा तुरत, भिड़ै मो सेाँ जो चाहै
 इन सब खेलन माहिं सोच की बात कहा है ?
 नेह विफल करि कुँवरि हाथ सेाँ जान न दैहैं ।

ऐसी छोटी बातन कारन ताहि गवैहैं ?”
 भयो “घोष सिद्धार्थ कुँवर है” करत निमंत्रित ।
 आय सातवें दिवस दिखावैं रणकौशल इत ।
 राजकुँवर सों जो चाहै सो होड़ लगावै ;
 जो जीतै सो यशोधरा को बरि लै जावै ।”

रंगभूमि लखाति जाको दूर लौं विस्तार ।
 सातवें दिन आय पहुँचे सकल शाक्यकुमार ।
 कुँवरि को लै चली शिविका सजी नाना रंग ।
 चली मंगल गीत गावति सुंदरी बहु संग ।

सुंदरी को बरन को अभिलाष मन में लाय
 राजकुल को नागदत्त कुमार पहुँच्यो आय ।
 और आए नंद अर्जुन, दोउ परम कुलीन,
 सकल युवकन के शिरोमणि समरकला-प्रवीन ।

अंत कंथक नाम चपल तुरंग पै असवार,
 लखि अपरिचित भीर जो हिहनात बारंबार,
 आय पहुँच्यो चट तहाँ सिद्धार्थ राजकुमार
 चकित चख सों प्रजागण दिशि लखत, करत विचार—

भूपतिन सों भिन्न इनको खान पान निवास,
 दुःख सुख में करत एक समान रोदन हास ।

अंत मंजु यशोधरा की ओर हेरि कुमार
बिहँसि खैंची पाट की बगडोर सहित सँभार,

कूदि कंथक पीठ तें आयो अर्वाणि पै फेरि,
भुज उठाय विशाल या विधि कह्यो सब को टेरि—
“योग्य नहिँ या रत्न के जो योग्य सब सों नाहिँ ।
आय ठाढ़ो हैं बरन की चाह धरि मन माहिँ ।

कियो अनुचित आज साहस व्यर्थ हम यह धाय
सिद्ध याको करें अब प्रतिपक्षिगण सब आय ।”
धनुर्विद्या की परीक्षा हित प्रचार्यो नंद ।
जाय राख्यो लक्ष्य षट् गो दूर पै सानंद ।

वीर अर्जुन ने धर्यो निज लक्ष्य षट् गो दूर ;
नागदत्त सगर्व बढ़िगो आठ गो भरपूर ।
पै कुँवर सिद्धार्थ ने आदेश दियो सुनाय —
“धरो मेरो लक्ष्य दस गो दूर ह्याँ ते जाय ।”

गयो एती दूर पै धरि लक्ष्य सो जब जाय
दर्शकन को एक कौड़ी सो पर्यो दरसाय ।
खैंचि शर तब छाँड़ि बेध्यो लक्ष्य नंद सँभारि ।
वीर अर्जुन हू निसानो लियो अपनो मारि ।

नागदत्त अचूक शर सों लक्ष्य कीनो पार ।

चकित जनसमुदाय कीनी 'धन्य धन्य' पुकार ।
 पै कुमारि यशोधरा यह लखि लियो मन मारि,
 चकित नयनन पै लियो निज ऐंचि अंचल डारि

लखै जामें नाहिं सो तिन लोचनन सेाँ और
 विफल अपने कुँवर को शर होत कहुँ तिहि ठौर ।
 जाय तिनको धनुष लीनो हाथ राजकुमार,
 कसी जामें ताँत, चाँदी को बँध्यो दृढ़ तार,

सकत जाको तानि आँगुर चार सोई वीर
 जासु बाहु विशाल में अति होय बल गंभीर ।
 बिहँसि तीर चढ़ाय खँची डोर कुँवर प्रवीन ।
 मिलीं धनु की कोटि दोउ औ मूठ कर की पीन ।

दियो यों कहि फेंकि वाको दूर कुँवर उठाय—
 “खेलिबे को धनुष यह तो दियो मोहिँ थमाय ।
 प्रेम परखन योग्य नहिँ यह, लखत सकल समाज ।
 शाक्य-अधिपति योग्य धनुष न कहा कोउ पै आज ?”

एक बोल्यो “सिंहहनु को धनुष है पृथु एक,
 धरो मंदिर माहिँ कब सेाँ कोउ न जानत नेक,
 सकत नाहिँ चढ़ाय जाकी कोउ पतिंचा तानि,
 जो चढ़ै तो सकत वाको नाहिँ कोउ संधानि” ।

“बेगि लाओ ताहि” बोल्यो कुँवर तब हरषाय ।
 लोग लाए जाय सो प्राचीन धनुष उठाय,
 वज्र-निर्मित, कनकबेलिन-खचित, अति गुरुभार ।
 चापि घुटनन पै लियो बल आँकि तासु कुमार ।

कह्यो पुनि “लै याहि बेधौ लक्ष्य तो टुक जाय” ।
 पै सक्यो लै ताहि कोऊ नेकु नाहि नवाय ।
 कुँवर उठि तब सहज भुकि कोदंड दियो लचाय,
 डोर की लै फाँस दीनी कोटि बीच चढ़ाय,

शिजिनी पुनि खैंचि कीनी अति कठिन टंकार ।
 भयो कंपित पवन, पूर्यो घोर रव पुर पार ।
 हहरि निर्वल लोग पूछ्यो “शब्द यह किहि ओर ?”
 कह्यो सब “यह सिंहहनु के धनुष को रव घोर

है चढ़ाये जाहि अबहीं भूप को सुत धीर;
 जात है अब लक्ष्य बेधन; लगी है अति भीर” ।
 साधि शर संधानि छाँड़्यो जबै राजकुमार
 पवन चीरत चल्यो, कीनो भेदि लक्ष्यहि पार ।

थम्यो नहिं शर गयो सनसन बढ़त आगे दूर
 दृष्टि काहू की नहीं पहुँची जहाँ भरपूर ।

नागदत्त पुनि खड्ग चलावन की ठहराई ।
 तालद्रुम दस आँगुर मोटो दियो गिराई ।

अर्जुन खंड्यो द्वादश आँगुर मोटो तरु जब
 पंद्रह आँगुर विटप छिन्न करि दियो नंद तब ।
 रहे तहाँ द्वै विटप खड़े ऐसे क्षुरि संगहि ।
 चमकायो करवाल कुँवर कर में अपने गहि ।
 दोऊ यों बेलाग उड़े एकहि प्रहार लहि
 ज्यों के त्यों ते खड़े जहाँ के तहाँ गए रहि ।
 हरषि पुकार्यो नंद “धार बहँकी कुमार की” ।
 काँपी मन में कुँवरि देखि यह बात हार की ।
 मरुत देव यह चरित रहे अवलोकत वा छन ।
 दक्षिण दिशि से प्रेरि बहायो मंद समीरन ।
 हरे भरे ते ऊँचे दोऊ ताल मनोहर
 तुरत गिरे अरराय आय नीचे धरती पर ।

फेरि तीखे तुरग चारों ने बढ़ाए जोर;
 तीन फेरो कियो वा मैदान के सब ओर ।
 गयो कंथक दूर बढ़ि पाछे सबन को नाय ।
 वेग ऐसा तासु जौ लौं फेन मुहँ सों आय

गिरै धरती पै, उड़ै सो बीस लट्ट प्रमान ।
 नंद बोल्यो “हमहुँ जीतैं पाय अश्व समान ।
 बिना फेरो तुरग कोऊ छोरि लायो जाय,
 फेरि देखौ कौन वाको सकै वश में लाय”

सीकड़न सेाँ बँधो लाए एक अश्व विशाल,
जो निशीथ समान कारो, नयन जासु कराल,
भारि केसर रह्यो जो फरकाय नथुने दोउ,
पीठ सेाँ नहिं जासु कबहूँ लगन पायो कोउ ।

चढ़यो वापै नंद कैसहु गयो सो जब छेँकि,
दोउ पग सेाँ भयो ठाढ़ो दियो वाको फेंकि ।
रह्यो अर्जुन ही जम्यो कछु काल आसन मारि;
दियो चाबुक पीठ पै कसि बाग को भटकारि ।

रोष औ भय सेाँ भड़कि भाग्यो तुरग भुकि भूमि,
बहँकि कै फेरो लगायो खेत में वा घूमि ।
किंतु खीस निकासि सहसा फिर्यो काँधी मारि,
एड़ सेाँ अर्जुन दबायो, दियो ताको डारि ।

अश्वपाल अनेक एते माहिं पहुँचे आय;
बाँधि लीनो वाहि तुरतै लोह-सीकड़ नाय ।
कह्यो सब “या भूत ढिग नहिं उचित कुँवरहिँ जान,
हृदय आँधी सरिस जाको रुधिर अनल समान ।”

कह्यो किंतु कुमार “खोलौ अबै सीकड़ जाय; ।
देहु केसर तासु मेरे हाथ नेकु थमाय” ।
थामि केसर कुँवर पुनि कछु मंद शब्द उचारि
दियो माथे पै तुरग के दाहिनो कर धारि ।

कंठ को गहि पानि फेर्यो पीठ लौं लै जाय ।
 चकित भे सब लोग लखि जब अश्व सीस नवाय
 भयो ठाढ़ो सहमि कै चुपचाप तहँ बस मानि;
 मनो बंदन करन लाग्यो परम प्रभु, पहिचानि ।
 नाहिं डोल्यो हिल्यो जा छन कुँवर भो असवार
 चल्यो सीधे एड़ औ बगडोर के अनुसार ।
 उठे लोग पुकारि “बस, अब ! इन कुमारन माहिं
 है कुँवर सिद्धार्थ सब सौं श्रेष्ठ संशय नाहिं” ।

विवाह

सुप्रबुद्ध अति है प्रसन्न लखि कौतुक सारे
 बोले “तुम, हे कुँवर ! रहे हम सब को प्यारे ।
 सब सौं बढ़ि तुम कढ़ौ रही यह चाह हमारी ।
 कौन शक्ति लहि कियो आज यह अचरज भारी ?
 कहत सबै तुम रहत रंग में भूले अपने,
 फूलन पै फैलाय पाँव देखत हौ सपने ।
 यह अद्भुत पुरुषार्थ कहाँ तेँ तुम में आयो
 तिनसौं बढ़ि जो अपनो सारो समय बितायो
 राखेतन के बीच और आखेटवनन में,
 सकल जगत् के व्यवहारन में कुशल जनन में ?”

पिता को निदेश पाय सुंदरी कुमारी उठी,
लीने जयमाल दोऊ हाथ में सजाय कै ।
कंचनकलित पाटसारी खैंचि आनन पै,
घूँघट बढ़ाय चली मंद पग नाय कै ।
डोलति समाज बीच पहुँची ता ठौर जहाँ,
सोहत सिद्धार्थ छटा दिव्य छहराय कै ।
ठाढ़ो है समीप जाके अश्व चुपचाप सब
चौकड़ी भुलाय, कारे कंठहिँ नवाय कै ।
कुँवर के पास जाय आनन उधार्यो बाने
जापै अनुराग के उमंग की प्रभा छई ।
कंठ बीच डारी जयमाल भुकि छुयो पद,
पुलकित गात बोली भाव सेँ भरी भई ।
“फेरौ मेरी ओर दीठि नेकु तो, कुमार प्यारे !
मैं तो सब भाँति सेँ तिहारी आज ह्वै गई” ।
प्रमुदित लोग भए देखि उन दोउन को
जात कर बीच कर धारे प्रीति सेँ नई ॥

बहुत दिनन में भए बुद्ध सिद्धार्थ कुँवर जब
बिनती करि यह मर्म जाय तिनसेँ बूझ्यो सब—
कनकखचित सो चित्रित सारी क्यों कुमारि धरि
चली हृदय में गर्व और अनुराग इतो भरि ?

बोले जगदाराध्य “विदित तब पूरो नाहीं
 रह्यो हमें यह, रही धारणा कछु मन माहीं ।
 जन्म मरण को चक्र रहत है नाहिँ कबहुँ थिर ;
 विगत वस्तु औ भाव, भूत जीवन प्रगटत फिर ।
 आवति अब सुध मोहिँ वर्ष बीते हैं लाखन
 रह्यो बाघ में हिमगिरि के इक विपिन बीच घन ।
 लुधित स्ववर्गिन संग फिरौँ मैं बन बन धावत ।
 कुश के भापस बीच बैठि नित घात लगावत
 गैयन पै तिन जे कारे दृग चौँकि उठावैं,
 मृत्यु निकट जो चरत चरत चलि आपहि आवैं ।
 कबहुँ तारकित गगन तरे खोजौँ भख उत इत ;
 सूँघत घूमौँ पंथ मनुज-मृग-गंध लहन हित ।
 संगी मेरे मिलैं मोहिँ जो बन के भीतर
 अथवा निचुलन सोँ छाए मृदु सरित पुलिन पर
 तिनमें बाधिनि एक वर्ग में सब सोँ सुंदरि ;
 ताहि लहन हित बन के सारे बाघ गए लरि ।
 चामीकर सो चर्म तासु जापै बहु धारी ;
 —कछु वैसोई जैसी गोपा की सो सारी ।
 भयो युद्ध घमसान दंत नख सोँ वा वन में ;
 घावन सोँ बहि चल्यो रक्त तब सबके तन मैँ ।
 खड़ी नीम तर सुंदरि बाधिनि सो सब निरखति
 विकट प्रणय हित जासु मच्यो सो क्रूर कांड अति ।

बड़ी चाह सों आई कूदति मेरे नेरे ;
 रुचि सों लागी चाटन हाँफत तन को मेरे ।
 चली संग लै मोहिँ गर्व सों सो पुनि गरजति
 तिन सब बाधन बीच कढ़ति जिनको मार्यो हति ।
 यों मेरे सँग प्रेमगर्व सों बनहिँ सिधाई ।
 जन्म मरण को चक्र रहत घूमत यों, भाई !”

या भाँति सुंदरि कुँवरि को लहि कुँवर मन आनँद छयो ।
 शुभ लग्न उत्तम धरि गई जब मेष को दिनकर भयो ।
 सब ब्याह के सुप्रबुद्ध के घर साज बाज रचे गए ।
 छायो गयो मंडप कलित, तोरण रुचिर बँधिगे नए ।

अब द्वार पै सब होत मंगलचार नाना भाँति हैं ।
 दरसाति भीर अपार औ गज बाजि की बहु पाँति हैं ।
 लै खील फेंकति हैं अटारिन पै चढ़ी पुर नागरी,
 कल कंठ सों जिनके कढ़ै धुनि परम कोमल रस भरी ।

मन मुदित वर कन्या वरासन पै विराजत आय हैं ।
 मधुपर्क, कंगन आदि की सब रीति जाति पुराय हैं ।
 औ ग्रंथिबंधन भाँवरी के होत पूर्ण विधान हैं ।
 ऋषि मंत्र बैठे पढ़त हैं, सब विप्र पावत दान हैं ।

तब हूँ गई सब रीति कन्या को पिता तब आय कै
रि नीर नयनन में कछो “हे कुँवर ! हित चित लायकै
क राखियो यापै दया जो अब तिहारी है भई” ।
लहिँन विदा हूँ अंत सज्जित राजमंदिर में गई ।

रंगभवन विहार

रहत प्रेमहिं प्रेम छायो नवल दंपति माहिं ।
प्रेम ही पै पै भरोसो कियो भूपति नाहिं ।
दई आज्ञा रचन की इक प्रेम-कारागार
अति मनोहर दिव्य औ रमणीय रुचिर अपार ।

कुँवर को विश्रामवन सो बन्यो अति अभिराम ।
नाहिं वसुधा बीच और विचित्र वैसो धाम ।
हर्म्य सीमा बीच सोहत हरो भरो पहार;
बहति जाके तरे निर्मल रोहिणी की धार ।

उतरि कलकल सहित सरि हिमशैल-तट सौं आय
जाति है निज भेंट गंगतरंग दिशि लै धाय ।
लसत दक्षिण ओर हैं वट सघन, साल, रसाल
भूपसि जिनपै रह्यो कुसुमित मालती को जाल ।

धाम को वा रहत न्यारे किए ते बिलगाय
 जगत् सेाँ सब जहाँ एती हाय हाय सुनाय ।
 कबहुँ आवत नगर-कलकल करत सीमा पार;
 दूर सेाँ पै लगत प्रिय सो ज्यों भ्रमरगुंजार ।
 खड़े उत्तर ओर हिमगिरि को अमल प्राकार
 नील नभ के बीच निखरो धवल मालाकार ।
 विदित वसुधा बीच जो अद्भुत अगम्य अपार;
 जासु विपुल अधित्यका औ उठे विकट कगार,
 शृंग तुंग तुषार मंडित, वक्ष विशद विशाल,
 लहलहे अति ढार औ बहु दरी, खोह कराल
 जात मानव ध्यान लै ऊँचे चढ़ाय चढ़ाय
 अमर धाम तकाय राखत सुरन बीच रमाय ।

निर्भरन सेाँ खचित औ घन-आवरण सेाँ छांय
 श्वेत हिम तर रही काननराजि कहुँ लहराय ।
 परत नीचे चीड़, अर्जुन, देवदार अपार ।
 गरज चीतन की परै सुनि, करिन को चिह्नार ।

कहुँ चटानन पै चढ़े वनमेष हैं मिमियात ।
 मारि कै किलकार ऊपर गरुड़ हैं मँडरात ।
 और नीचे हरो पटपर दूर लौं दरसाय,
 देववेदिन तर बिछायो मनौ आसन लाय ।

सोधि इनके सामने समथल पहाड़ी एक
 स्थापकन मिलि दिव्य मंडप खड़े किए अनेक ।
 उठत ऊँचे धौरहर नहिँ नेकु लागी बेर ।
 औ प्रशस्त अलिंद सुन्दर खिँचि गए चौफेर ।
 खचित चकरी धरन पै हैं चरित बहु प्राचीन ।
 कतहुँ राधाकृष्ण विहरत गोपिकन में लीन ।
 द्रौपदी को चीर खँचत कहुँ दुशासन राय ।
 कहुँ रहे हनुमान सिय सों पिय सँदेस सुनाय ।
 मुख्य तोरणद्वार ऊपर वक्त्रतुंडहिँ साजि
 रहे वैभव बुद्धिदायक श्रीगणेश विराजि ।
 जाय प्रांगण और उपवन बीच पथ के पार
 विमल बादर❀ को मिलै इक और भीतर द्वार ।
 लसत मर्मर चौखटे पर नील प्रस्तर भार ।
 लगे चंदन के सुचित्रित अति विचित्र किवार ।
 मिलै आगे बृहत् मंडप, कुंज शीतल धाम ।
 बनीं सीढ़ी, गली, जाली कटीँ अति अभिराम ।
 खड़े अगणित खंभ, चित्रित छत रही छवि छाया ।
 फटिक कुंडन सों फुहारे छुटत भरी लगाय ।

* एक प्रकार का संगमर्मर जिस पर बादल की सी धारियाँ पड़ी होती हैं ।

लसत इंदीवर तथा अरविंदजाल-प्रसार,
हरित, रक्त, सुवर्णमय जहँ मीन करत विहार ।

कहुँ अनेक विशालदृग मृग बसि निकुंजन माहिं
टुँगत पाटल के कुसुमदल, करत कछु भय नाहिं ।
कतहुँ ऊँचे ताड़ ऊपर फरफरात विहंग,
इंद्रधनु सम पंख जिनके दिव्य रंग बिरंग ।

नील धूम कपोत छज्जन तर सुनहरे जाय
अति सुरक्षित सुघर अपने नीड़ लिए बनाय ।
शुचि खड्गजन पै फिरैं कहुँ मोर पूँछ पसारि ।
बैठि उज्ज्वल छीर सम बक रहे तिन्हें निहारि ।

एक फल सों दूसरे पै जाय भूलत कीर ।
फिरैं मुनियाँ चुहचुहाती खिले फूलन तीर ।
शान्ति औ सुख सों बसैं सब जीव मिलि वा धाम ।
लेति जाली बीच निर्भय छिपकिली बसि घाम ।

हाथ सों लै जाति भोजन गिलहरी भटकारि ।
केतकी तर बसत कारो नाग फेंटी मारि ।
कतहुँ बसि कस्तूरिमृग हैं करत विविध विहार ।
वायसन की बोल पै कपि करत कहुँ किलकार ।

रहत सुन्दरि सहचरिन सों भरो सो रसधाम ।
लसति सुखमा बीच आनन की छटा अभिराम ।

बोलि मधुरे बैन सेवा में रहैं सब लीन;
सजैं सुख के साज छन छन सुरुचि सहित नवीन ।

कुँवर को सुख लखि सुखी ते, मुदित मोद निहारि ।
गर्व बस आदेश-पालन को सकैं जिय धारि ।
विविध सुख के बीज जीवन यैँ बिहात लखाय
पुष्पहास विलास के बिच रमति ज्यों सरि जाय ।

मोहनी सी रहति मायाभवन में वा छाये;
रहत भूलो मन, परत दिन राति नहिं जनाय ।

लसत गुमगृह इन भवनन के भीतर जाई,
मनमोहन हित शिल्प जहाँ सब शक्ति लगाई ।
प्रांगण विस्तृत परत प्रथम मर्मर को सुन्दर
ऊपर नीलो गगन, मध्य में लसत विमल सर ।
मर्मर के सोपान सुभग चारो दिशि सोहत ।
पञ्चीकारी रंग रंग की लखि मन मोहत ।
जहाँ ग्रीष्म में जातहि ऐसो ताप जात हरि
पसरे निर्मल ज्यों तुषार पै पाँव रहे परि ।
नित्य गवाक्षन सों हूँ कै मृदु रविकर आवैं;
ढारि स्वर्ण की धार रुचिर आभा फैलावैं ।
जब वा रुचिर विलासभवन के भीतर आवैं
प्रखर दिवस हूँ प्रेम छाकि संध्या हूँ जावैं ।

रंगभवन सो परत द्वार के भीतर सुन्दर,
 सकल जगत् के अचरज को आगार मनोहर ।
 अगरघटित दीपक सुगंधमय बरत सुहावै,
 जासु अमल मृदु ज्योति भरोखन सों कढ़ि आवै ।
 तनी चाँदनी के बूटे चमकैं मनभावन
 परे कनक पर्यङ्क बीच गुलगुले बिछावन ।
 कनक-कलित पट सुन्दर द्वारन पै लटकाए,
 सुमुखिन भीतर लेन हेतु जो जात उठाए ।
 उज्ज्वलता, मृदुता प्रभात संध्या की सब छिन
 छाई तहँ लखि परति, जानि नहिँ जात राति दिन ।

लगे रहत पकवान विविध, नित कढ़ति बीन धुनि ।
 कंद मूल फल धरे रहत डलियन में चुनि चुनि ।
 हिम सों शीतल किए मधुर रस धरे सजाई ।
 कठिन युक्ति सों बनी रसीली सजी मिठाई ।

नित रहति सेवा में लगी तहँ सहचरी बहु कामिनी,
 सुकुमारि कारी भौहवारी, काम की सहगामिनी ।
 जब नीँद में भूपि नयन लागत कुँवर के अलसाय कै,
 नियराय बीजन करति कोमल कर-सरोज हिलाय कै ।

जगि जात जब पुनि तासु मनहिँ रिझाय कै बिलमावतीं ।
 मुसुकाय, रस के गीत मधुरे गाय नाच दिखावतीं ।

भनकाय घुँघुरू बैठि बाहु उठाय भाव बतावतीं ।
वीणा मृदंग उठाय कोउ चुपचाप साज मिलावतीं ।

नित अगर, धूप, कपूर सौं उठि धूम छावत है घनो ।
बगराय केशकलाप बासति कामिनी तहँ आपनो
मृदु अंग लाय उशीर चन्दन, उत्तरीय सजाय कै,
रसबस कुमार यशोधरा के संग बैठत आय कै ।

जरा, मरण, दुख, रोग, क्लेश को वा थल माहीं
कोऊ कबहूँ नाम लेन पावत है नाहीं ।
यदि कोऊ वा रस-समाज में होय खिन्न मन,
परै नृत्य में मंद चरण वा धीमी चितवन
तुरतहि सो वा स्वर्गधाम सौं जाय निकारी,
जासौं दुख लखि तासु न होवै कुँवर दुखारी ।
नियत नारि बहु दंड देन हित तिनको हेरी
जो कोउ चर्चा करै कतहुँ दुखमय जग केरी,
जहाँ रोग, भय, शोक और पीड़ा हैं छाई,
बहु विलाप सुनि परत चिता दहकति धुधुआई ।
गने जात अपराध नर्तकिन को यह भारी
वेणीबंधन छूटि परै जो केश बिगारी ।
नित उठि तोरे जात कुसुम कुम्हिलाने सारे;
औ सब सूखे पात जात करि चुनि चुनि न्यारे ।

या प्रकार सब बुरे दृश्य नित जात दुराए ।
 बार बार यों कहत भूप मन आस बँधाए—
 “तिन बातन सों दूर कुँवर यदि युवा बितावैं
 उदासीनता मानुस के मन में जो लावैं,
 कर्मरेख की खोटी छाया अवसिहि टरिहै,
 राजश्री धरि सकल भूमि सो शासन करिहै;
 ताहि देखिहैं सकल भूपतिन सों मैं भारी
 छावत अपनी विमल कीर्ति वसुधा में सारी ।

प्रेम पाहरू जहाँ, भोग के बंधन भारी,
 तिन सुख-कारागारन के चहुँ ओर अगारी
 उठवाई नृप ऊँची चकरी चारदिवारी
 जामें फाटक लग्यो एक पीतर को भारी ।
 मनुज पचासक लगैं सकैं तो ताहि फिराई;
 आधे योजन शब्द खुलन को परै सुनाई ।
 ताके भीतर और लगे फाटक द्वै दृढ़तर ।
 लाँघै तीनों द्वार होय तब कोऊ बाहर ।
 बेड़े सीकल लगे फाटकन माँहि !भिड़ाई ।
 एक एक पै गई कड़ी चौकी बैठाई ।
 कछो रत्नकन सोँ “नृप हम आदेश देत अब;
 ह्वै है जो प्रतिकूल प्राण खोवौगे तुम सब ।
 देखौ कोऊ फाटक बाहर होन न पावै
 चाहै होवै कुँवर, सोउ नहिँ कहुँ कढ़ि जावै”

तृतीय सर्ग

वसत बुद्ध भगवान् सरस सुखमय थल माहीं ।
जरा, मरण, दुख, रोग क्लेश कछु जानत नाहीं ।
कबहुँ कबहुँ आभास मात्र इनको सो पावत ;
जैसे सुख की नीँद कोउ जो सोवत आवत
कबहुँ कबहुँ सो स्वप्न माहिं छानत है सागर,
लहत कूल जगि, भार लादि कछु अपने मन पर ।
कबहुँ ऐसो होत रहत सोयो कुमारवर
सिर धरि प्यारी यशोधरा के विमल वत्त पर ;
मृदु कर मंद डुलाय करति सो मुख पै बीजन
उठत चौकि चिल्लाय “जगत् मम ! हे व्याकुल जन !
जानत हौं, हौं सुनत सबै, पहुँच्यौ मैं, भाई !”
मुख पै ताके दिव्य ज्योति तब परति लखाई,
करुणा की मृदु छाया पुनि दरसति तहँ छाई ।
अति सशंकटग यशोधरा पूछै अकुलाई
“कौन कष्ट है प्राणनाथ ! कछु जात न जानो” ।
परै कुँवर उठि, लखै प्रिया को मुख कुम्हिलानो ।
आँसु सुखावन हेतु तासु पुनि लागै बिहँसन
बीणा को सुर छेड़न को देवै अनुशासन ।

धरी रही खिरकी पै वीणा एक उतानी ;
 परसि प्रभंजन ताहि करत क्रीड़ा मनमानी ।
 तारन को भननाय निकासत अति अटपट धुनि ;
 रहे पास जो तिनको केवल परी सोइ सुनि ।
 किंतु कुँवर सिद्धार्थ सुन्यो देवन को गावत ।
 तिनके ये सब गीत कान में परे यथावत—

हम हैं वाहि पवन की बानी जो इत उत नित धावै ;
 हा हा करति विराम हेतु पै कतहुँ विराम न पावै ।
 जैसो पवन गुनौ वैसोई जीवन प्राणिन केरो ;
 हाहाकार उसासन को है भंभावात घनेरो ।

आए हौ किहि हेतु कहाँ ते परत न तुम्है^५ जनाई,
 प्रगटत है यह जीवन कित तें और जात कहँ धाई ।
 जैसे तुम तैसे हम सब हू जीव शून्य सों आवैं ।
 इन परिवर्तनमय क्लेशन में सुख हम कछू न पावैं ।

औ परिवर्तन-रहित भोग में तुमहूँ को सुख नाही ।
 यदि होती थिर प्रीति कछू सुख कहते हम ता माहीं ।
 पै जीवनगति और पवनगति एकहि सी हम पावैं ।
 हैं सब वस्तु क्षणिक स्वर सम जो तारन सों छिड़ि आवैं ।

हे मायासुत ! छानत घूमैं हम वसुधा यह सारी ;
 यातें हम इन तारन पै हैं रहे उसास निकारी ।

देश देश में केती बाधा विपति विलोकत आवैं ।
केते कर मलि मलि पछितावैं, नयनन नीर बहावैं ।

पै उपहास-जनक ही केवल लगै विलाप हमारो ।
जीवन को ते अति प्रिय मानै जो असार है सारो ।
यह दुख हरिबो मनौ टिकैबो घन तर्जनि दिखराई;
अथवा बहति अपार धार को गहिबो कर फैलाई ।

पै तुम त्राण हेतु हौ आए, कारज तव नियरानो ।
विकल जगत है जोहत तुमको त्रिबिध ताप में सानो ।
भरमत हैं भवचक्र बीच जड़ अंध जीव ये सारे ।
उठौ, उठौ, मायासुत ! बनिहै नाहिं बिना उद्वारे ।

हम हैं वाहि पवन की बानी जो कबहूँ थिर नाहीं ।
घूमौ तुमहुँ, कुँवर ! खोजन हित निज विराम जग माहीं ।
छाँड़ौ प्रेमजाल प्रेमिन हित, दुख मन में अब लाओ ।
वैभव तजौ, विषाद विलोकौ औ निस्तार बताओ ।

भरि उसास इन तारन पै हम तव समीप दुख रोवैं ।
अब लौं तुम नहिं जानत जग में केतो दुख सब ढोवैं ।
लखि तुमको उपहास करत हम जात; गुनौ चित लाई
धोखे की यह छाया है तुम जामें रहे भुलाई ।

ता पाछे भइ साँझ, कुँवर बैठ्यो आसन पर
रस-समाज के बीच धरे प्रिय गोपा को कर ।

गोधूली की बेला काटन के हित ता छन
 लागी दासी एक कहानी कहन पुरातन;
 जामें चर्चा प्रेम और उड़ते तुरंग कौ,
 तथा दूर देशन की बातें रंग रंग की,
 जहाँ बसत हैं पीत वर्ण के लोग लुगाई,
 रजनीमुख लखि सिंधु माहिं रवि रहत समाई ।
 कहत कुँवर “हे चित्रे ! तू सब कथा सुनाई
 फेरि पवन के गीत आज मेरे मन लाई ।
 देहु, प्रिये ! तुम याको मुक्ताहार उतारो ।
 अहह ! परी है एती विस्तृत वसुधा भारी !
 ह्वै हैं ऐसे देश जहाँ रवि बूड़त है नित ।
 ह्वै हैं कोटिन जीव और जैसे हम सब इत ।
 सुखी न या संसार बीच ह्वै हैं बहुतेरे,
 कछु सहाय करि सकैं तिन्हें यदि पावैं हेरे ।
 कबहुँ कबहुँ हौं निरखत ही रहि जात प्रभाकर
 कढ़ि पूरब सेाँ बढ़त जबै सो स्वर्णमार्ग पर ।
 सोचौ मैं वे कैसे हैं उदयाचल प्राणी
 प्रथम करें जो ताके किरनन की अगवानी ।
 अंक बीच बसि कबहुँ कबहुँ, हे प्रिये ! तिहारे
 अस्त होत रवि ओर रहौं निरखत मन मारे
 अरुण प्रतीची ओर जान हित छटपटात मन;
 सोचौ कैसे अस्ताचल के बसनहार जन ।

हूँ हैं जग में परे न जाने केते प्राणी
 हमें चाहिए प्रेम करन जिनसें हित ठानी ।
 परति व्यथा मोहिं जानि आज ऐसी कछु भारी
 सकत न तव मृदु अधर जाहि चुंबन सें टारी ।
 चित्रे ! तूने बहु देशन की बात सुनाई,
 उड़नहार वे अश्व कहाँ यह देहि बताई ।
 देहुं भवन यह, पावौं जो तुरंग सो बाँको
 घूमत तापै फिरौं लखौं विस्तार धरा को ।
 इन गरुड़न को राज कहूँ मोसें है भारी
 उड़त फिरत जो सदा गगन में पंख पसारी ।
 मनमानो नित जहाँ चहैं ते घूमै घामैं ।
 यदि मेरे हू पंख कहूँ वैसे ही जामैं !
 उड़ि उड़ि छानौं हिमगिरि के वे शिखर उच्चतर;
 बसौं जहाँ रविकिरन-ललाई लसति तुहिन पर ।
 बैठो बैठो तहाँ लखौं मैं वसुधा सारी,
 अपने चारों ओर दूर लौं दीठि पसारी ।
 अबलौं क्यों नहिं कढ्यो देश देखन हित सारे ?
 फाटक बाहर कहा कहा है परत हमारे ? ”

उत्तर दीनो एक ‘प्रथम नगरी तब भारी;
 ऊँचे मंदिर, बाग और आमन की बारी ।

गोधूली की बेला काटन के हित ता छन
 लागी दासी एक कहानी कहन पुरातन;
 जामें चर्चा प्रेम और उड़ते तुरंग कौ,
 तथा दूर देशन की बातें रंग रंग की,
 जहाँ बसत हैं पीत वर्ण के लोग लुगाई,
 रजनीमुख लखि सिंधु माहिं रवि रहत समाई ।
 कहत कुँवर “हे चित्रे ! तू सब कथा सुनाई
 फेरि पवन के गीत आज मेरे मन लाई ।
 देहु, प्रिये ! तुम याको मुक्ताहार उतारो ।
 अहह ! परी है एती विस्तृत वसुधा भारी !
 हँ हैं ऐसे देश जहाँ रवि बूड़त है नित ।
 हँ हैं कोटिन जीव और जैसे हम सब इत ।
 सुखी न या संसार बीच हँ हैं बहुतेरे,
 कछु सहाय करि सकैं तिन्हें यदि पावैं हेरे ।
 कबहुँ कबहुँ हौं निरखत ही रहि जात प्रभाकर
 कढ़ि पूरब सेाँ बढ़त जबै सो स्वर्णमार्ग पर ।
 सोचौ मैं वे कैसे हैं उदयाचल प्राणी
 प्रथम करैं जो ताके किरनन की अगवानी ।
 अंक बीच बसि कबहुँ कबहुँ, हे प्रिये ! तिहारे
 अस्त होत रवि ओर रहौं निरखत मन मारे
 अरुण प्रतीची ओर जान हित छटपटात मन;
 सोचौ कैसे अस्ताचल के बसनहार जन ।

हैं हैं जग में परे न जाने केते प्रानी
 हमें चाहिए प्रेम करन जिनसें हित ठानी ।
 परति व्यथा मोहिं जानि आज ऐसी कछु भारी
 सकत न तव मृदु अधर जाहि चुंबन सेाँ टारी ।
 चित्रे ! तूने बहु देशन की बात सुनाई,
 उड़नहार वे अश्व कहाँ यह देहि बताई ।
 देहुँ भवन यह, पावौं जो तुरंग सो बाँको
 घूमत तापै फिरौं लखौं विस्तार धरा को ।
 इन गरुड़न को राज कहूँ मोसेाँ है भारी
 उड़त फिरत जो सदा गगन में पंख पसारी ।
 मनमानो नित जहाँ चहैं ते घूमै घामैं ।
 यदि मेरे हू पंख कहूँ वैसे ही जामैं !
 उड़ि उड़ि छानौं हिमगिरि के वे शिखर उच्चतर;
 बसौं जहाँ रविकिरन-ललाई लसति तुहिन पर ।
 बैठो बैठो तहाँ लखौं मैं वसुधा सारी,
 अपने चारों ओर दूर लौं दीठि पसारी ।
 अबलौं क्यों नहिं कढ्यो देश देखन हित सारे ?
 फाटक बाहर कहा कहा है परत हमारे ? ”

उत्तर दीनो एक ‘प्रथम नगरी तब भारी;
 ऊँचे मंदिर, बाग और आमन की बारी ।

आगे तिनके परै खेत सुंदर औ समथल,
 पुनि नारे, मैदान तथा कोसन के जङ्गल ।
 ताके आगे बिबसार को राज, कुँवरवर !
 है अपार यह धरा बसत जामें कोटिन नर ।”
 कह्यो कुँवर “है ठीक ! कहौ छंदकहिं बुलाई,
 लावै रथ सो जोति कालि, देखौं पुर जाई ।”

उद्बोधन

जाय दूत तब बात कही नृप सों यह सारी—
 “महाराज ! है तव कुमार की इच्छा भारी,
 बाहर के प्राणिन को देखै, मन बहलावै ।
 कहत कालि मध्याह्न समय रथ जोतो जावै ।”

बोल्यो भूप बिचारत, “हाँ ! अब तो है अवसर;
 किंतु फिरै यह डौड़ी सारे आज नगर भर,
 हाट बाट सब सजै, रहै ना कछू अरुचिकर
 अंध, पंगु, कृश, जराजीर्ण जन कढ़ैं न बाहर ।”

जात मार्ग सब भारि और छिरको जल छन छन ।
 धरैं कुल-बधू दधि, दूर्वा, रोचन निज द्वारन ।
 घर घर बंदनवार बँधे; लहि रंग सजीले
 भीतिन पर के चित्र लगत चटकीले गीले ।

पेड़न पै फहरात केतु नाना रँगवारे ।
 भयो रुचिर शृंगार मंदिरन में है सारे ।
 सूर्य्य आदि देवन की प्रतिमा गईँ सँवारी ।
 अमरावति सी होय रही नगरी सो सारी ।
 घोषक डौड़ी पीटि कह्यो चारौ दिशि टेरी
 “सुनौ सकल पुरवासी ! यह आज्ञा नृप केरी—
 आज अमंगल दृश्य न कोऊ सम्मुख आवैं;
 अंध, पंगु, कृश, जराजीर्ण ना निकसन पावैं ।
 दाह हेतु शव कोउ न काढ़ै निशि लौ बाहर ।
 है निदेश यह महाराज का, सुनैँ सकल नर ।”

गृह सँवारे सकल, शोभा नगर बीच अपार ।
 बैठि चित्रित चारु रथ पै कढ़्यो राजकुमार ।
 चपल धवल तुरंग की जोड़ी नधी दरसाय ।
 रह्यो मंडप भल्लकि रथ को प्रखर रविकर पाय ।

बनै देखत ही सकल पुरजनन को उल्लास,
 करैँ अभिवादन कुँवर को आय ते जब पास ।
 भयो प्रमुदित कुँवर लखि सो नरसमूह अपार ।
 हँसत यों सब लोग जीवन है मनौ सुखसार ।

कु वर बोल्यो “मोहिँ चाहत लोग सबै लखात
 होत जीव सुशील ये जो नृप कहे नहिँ जात ।

मगन हैं भगिनी हमारी लगीं उद्यम माहिँ ।
कियो इनको कौन हित हम नेकु जानत नाहिँ ।

लखौ, बालक रह्यो यह मो पै सुमन बगराय;
लेहु रथ पै याहि मेरे संग क्यों न बिठाय ?
अहा ! कैसो सुखद है सब भाँति करिबो राज,
पाय ऐसो देश सुंदर और लोक-समाज ।

और है आनंद कैसी सहज सी इक बात,
मगन जो आनंद में बस मोहिँ लखि ये भ्रात ।
बहुत सी हैं वस्तु ऐसी हमें चाहिए नाहिँ
पाय तिनको होयें जो ये तुष्ट निज मन माहिँ ।

रथ बढ़ाओ, लखैं, छंदक ! आज हम दै ध्यान
और सुखमय जगत यह, नहिँ रह्यो जाको ज्ञान ।”

फाटकन सेाँ होत आगे चल्यो रथ गंभीर ।
सोहती दोउ ओर पथ के लगी भारी भीर ।
करत अपने कुँवर को मिलि सकल जयजयकार ।
हैं लखात प्रसन्नमुख सब नृपवचन अनुसार ।

किंतु वाही समय निकस्यो भोंपड़ी सेाँ आय
एक जर्जर वृद्ध पथ पै धरत डगमग पाय ।

फटे मैले चीथरे तन पै लपेटे घोर;
जाति काहू की न भूलिहु दृष्टि जाकी ओर ।

त्वचा भुरी भरी सूखी खाल सी दरसाति,
भूलि पंजर पै रही पलहीन काहू भाँति ।
नई वाकी पीठ है दबि बहु दिनन के भार ।
धँसी आँखिन सों बहै कीचड़ तथा जलधार ।

दिलति रहि रहि दाढ़ जामें एकहू नहिँ दाँत ।
धूम और उछाह एतो देखि देखि सकात ।
लिए लाठी एक निज कंकाल-कर में छीन
टेकिबे हित अंग जर्जर और शक्तिविहीन

दूसरो कर धरे पसुरिन पै हृदय के पास,
कढ़ै भारी कष्ट सों रहि रहि जहाँ सों साँस ।
क्षीण स्वर सों कहत है “दाता ! सदा जय होय !
देहु कछु, मरि जायहौ अब और हौ दिन दोय ।”

खड़ो हाथ पसारि, कफ सों गयो कंठ रुँधाय ।
कठिन पीड़ा सों कहरि पुनि कछो “कछु मिलि जाय ।”
किन्तु ताहि ढकेलि पथ सों कछो लोग रिसाय
“भाग हौ सों; नाहिँ देखत कुँवर हैं रहे आय ?”

कहत कुँवर पुकारि “हैं हैं ! रहन क्यों नहीं देत ?

फेरि ब्रूम्हत सारथी सों करत कर संकेत—

“कहा है यह ? देखिबे में मनुज सो दरसात;

विकृत, दीन, मलीन, छीन कराल औ नतगात ।

कबहुँ जनमत कहा ऐसे हू मनुज संसार ?

अर्थ याको कहा जो यह कहत ‘हैं दिन चार ?’

नाहिं भोजन मिलत याको हाड़ हाड़ लखाय ।

विपद या पै कौन सी है परी ऐसी आय ?”

दियो उत्तर सारथी तब “सुनौ, राजकुमार;

वृद्ध नर यह और नहिं कछु, जाहि जीवन भार;

रही चालिस वर्ष पहिले जासु सूधी पीठ,

रहे अंग सुडौल सब औ रही निर्मल दीठ ।

लियो जीवन को सबै रस चूसि तस्कर काल,

हरयो बल सब, फेरि मति गति कर्यो याहि बिहाल ।

भयो जीवनदीप याको निपट तैलविहीन;

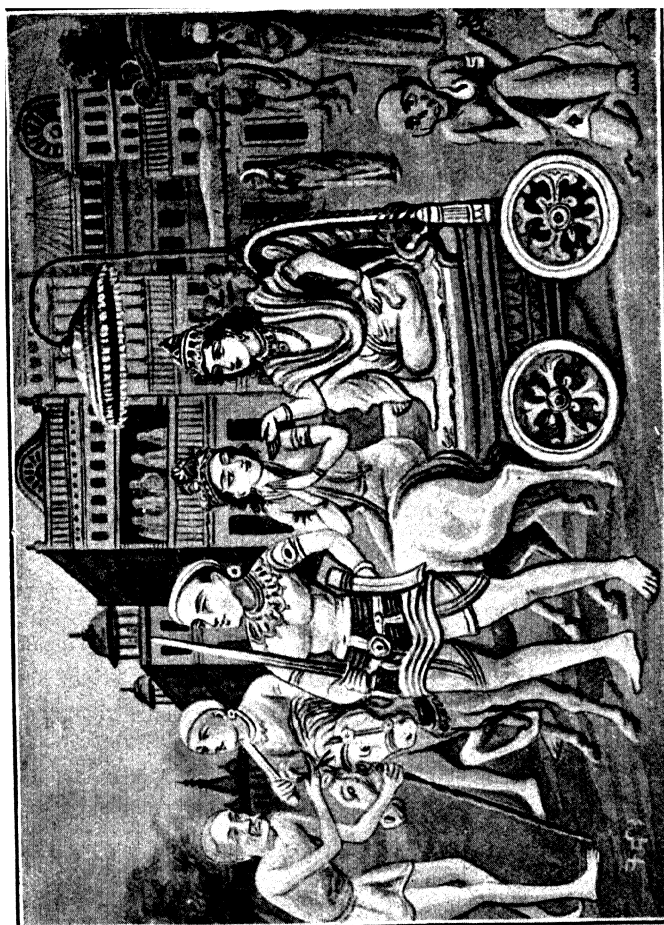
रहि गयो नहिं सार कछु, अब भई ज्योति मलीन ।

रही जो लौ शेष, ताको नहिं ठिकानो ठौर;

भूलमलाति बुझायबे हित चार दिन लौं और ।

जरा ऐसी वस्तु है, पै, हे कुँवर मतिमान !

देत क्यों या बात पै तुम व्यर्थ अपनो ध्यान ?”



कुँवर पूछ्यो “कहा, याही गति सबै की होय,
मिलत अथवा कहूँ ऐसो एक सौ में कोय ?”
कह्यो छंदक “सबै याही दशा में दरसायँ,
जियत एते दिनन लौं जो जगत में रहि जायँ ।”

फेरि ब्रूभक्त कुँवर “जो एते दिनन पर्यंत
रहैं जीवित हमहुँ ह्वै हैं कहा ऐसे अंत ?
जियति अस्सी वर्ष लौं जो चली गोपा जाय,
जरा बाहू को कहा यों घेरि लै है आय ?

और गंगा गौतमी जो सखी परम प्रवीन,
होयहैं वेहू कहा या भाँति जर्जर छीन ?”
दियो उत्तर सारथी “हाँ, अवसि, हे नरराय !”
कह्यो राजकुमार “बस, अब देहु रथहि घुमाय ।
चलौ घर की ओर लै अब मोहिं बेगि, सुजान !
आजु देख्योँ रह्यो जाको नाहिं कछु अनुमान ।”

आयो फिरि सिद्धार्थ कुँवर निज भवन ताहि छन
सोचत यह सब उदासीन, अत्यंत खिन्नमन ।
गए विविध पकवान और फल सम्मुख लाए;
छूयो नहिं, नहिं लख्यो, रह्यो निज सीस नवाए ।
निपुण नर्तकी बिलमावन की रहीं जतन करि
किंतु रह्यो सो मौन, कछु सोचत उसास भरि ।

यशोधरा दुखभरी परी चरनन पै आई,
 रोवति पूछ्यो “नाथ रहे क्यों सुख नहिं पाई ?”
 कह्यो कुँवर “सुख लहाँ सोइ खटकत मन माहीं ।
 है है याको अंत अवसि, कछु संशय नाहीं ।
 है हैं बूढ़े, यशोधरे ! हम तुम दिन पाई,
 नमित-गात, रसरूप-रहित, सब शक्ति गँवाई ।
 भुजपाशन बँधि रहैं, अधर सों अधर मिलाई
 घुसिहै काल कराल तऊ निज घात लगाई ।
 मम उमंग औ तव यौवनश्री हरिहै ऐसे
 असित निशा हरि रही अरुण द्युति नग की जैसे ।
 यहै जानि मम हृदय बीच शंका है छाई ।
 सोचौं, कैसो है कराल यह काल कसाई !
 कैसे यासों यौवनरस हम सकैं बचाई ?”
 नाहिं कुँवर को चैन; बैठि सब रैन बिताई ।

देख्यो शुद्धोदन महीपाल
 वा रैन स्वप्न है अति विहाल ।
 लखि परयो इंद्र को ध्वज विशाल,
 अति शुभ्र, खचित रविकिरणजाल ।
 उठि तुरत प्रभंजन प्रबल फेरि
 कियो दूक दूक ताको उधेरि ।

ताके पाछे तहँ रहे छाया
 चहुँ दिशि सौँ छायापुरुष आय ।
 लै दूक केतु के करत रोर,
 गे नगरद्वार के पूर्व ओर ।
 अब स्वप्न दूसरो है दिखात,
 दक्षिण दिशि सौँ दस द्विरद जात ।
 पगभार देत भूतल कँपाय,
 निज रजत शुंङ इत उत धुमाय ।
 सबके आगे जो गज अनूप
 तापै सुत अपनो लख्यो भूप ।
 अब स्वप्न तीसरे में लखात
 रथ प्रखर एक अति जगमगात;
 हैं खैंचत जाको तुरग चार
 अति प्रबल वेग जिनको अपार
 नथुनन सौँ निकसत धूमखंड,
 मुख अनल-फेन उगिलत प्रचंड ।
 चौथे सपने में चक्र एक
 लखि परत फिरत नहिं थमत नेक ।
 दमकति कंचन की नाभि जाति,
 आरन पै मणिद्युति जगमगाति ।
 हैं लिखे नेमि की पूरि कोर
 बहु मंत्र अलौकिक चहुँ ओर ।

यशोधरा दुखभरी परी चरनन पै आई,
 रोवति पूछ्यो “नाथ रहे क्यों सुख नहिं पाई ?”
 कश्यो कुँवर “सुख लहौं सोइ खटकत मन माहीं ।
 ह्वै है याको अंत अवसि, कछु संशय नाहीं ।
 ह्वै हैं बूढ़े, यशोधरे ! हम तुम दिन पाई,
 नमित-गात, रसरूप-रहित, सब शक्ति गँवाई ।
 भुजपाशन बँधि रहैं, अधर सेँ अधर मिलाई
 घुसिहै काल कराल तऊ निज घात लगाई ।
 मम उमंग औ तव यौवनश्री हरिहै ऐसे
 असित निशा हरि रही अरुण द्युति नग की जैसे ।
 यहै जानि मम हृदय बीच शंका है छाई ।
 सोचौ, कैसो है कराल यह काल कसाई !
 कैसे यासेँ यौवनरस हम सकै बचाई ?”
 नाहिं कुँवर को चैन; बैठि सब रैन बिताई ।

देख्यो शुद्धोदन महीपाल
 वा रैन स्वप्न ह्वै अति विहाल ।
 लखि परयो इंद्र को ध्वज विशाल,
 अति शुभ्र, खचित रविकिरणजाल ।
 उठि तुरत प्रभंजन प्रबल फेरि
 कियो दूक दूक ताको उधेरि ।

ताके पाछे तहँ रहे छाया
 चहुँ दिशि सों छायापुरुष आय ।
 लै द्वक केतु के करत रोर,
 गे नगरद्वार के पूर्व ओर ।
 अब स्वप्न दूसरो है दिखात,
 दक्षिण दिशि सों दस द्विरद जात ।
 पगभार देत भूतल कँपाय,
 निज रजत शुंङ इत उत घुमाय ।
 सबके आगे जो गज अनूप
 तापै सुत अपनो लख्यो भूप ।
 अब स्वप्न तीसरे में लखात
 रथ प्रखर एक अति जगमगात;
 हैं खँचत जाको तुरग चार
 अति प्रबल वेग जिनको अपार
 नथुनन सों निकसत धूमखंड,
 मुख अनल-फेन उगिलत प्रचंड ।
 चौथे सपने में चक्र एक
 लखि परत फिरत नहिं थमत नेक ।
 दमकति कंचन की नाभि जाति,
 आरन पै मणिद्युति जगमगाति ।
 हैं लिखे नेभि की पूरि कोर
 बहु मंत्र अलौकिक चहुँ ओर ।

पुनि लखत स्वप्न पंचम नरेश;
 नग और नगर बिच जो प्रदेश
 तहँ वज्रदंड लै कै कुमार
 करि रह्यो दुंदुभी पै प्रहार ।
 घननाद सरिस धुनि कढ़ति घोर,
 घहराति गगन में चहूँ ओर ।
 अब छठों स्वप्न यों लखत भूप
 पुरबीच धौरहर है अनूप;
 नभ के ऊपर जो उठत जात,
 घनमंडित मंडपसिर लखात
 बसि जापै दोऊ कर उठाय
 रह्यो कुँवर रत्न इत उत लुटाय ।
 मणि मानिक बरसत आय आय,
 सिंगरो जग लूटत धाय धाय ।
 पै स्वप्न सातवें में सुनात
 अति आर्त्त नाद दिशि दिशि समात ।
 छः पुरुष ढाँपि मुख लखि प्रभात
 करि करि विलाप हैं भगे जात ।

भूपति के मन इन स्वप्न की शंका छार्ई;
 जिनको फल नहिं वाको कोऊ सक्यो बताई ।

बोले नृप हूँ खिन्न “विपति मेरे घर आवै,
 पै कोऊ नहिँ मर्म स्वप्न को मोहिँ बतावै ।
 हूँ उदास सब लोग चले सोचत मन में तब
 कैसे होय विचार भूप के स्वप्न को अब ।
 परे द्वार पै जात वृद्ध ऋषि एक दिखाई
 धारे शुचि मृगचर्म, सीस सित जटा बढ़ाई
 कह्यो सबन को टेरि “भूप के ढिग हम आए;
 स्वप्न को फल चलौ देत हम अबै बताए ।”
 गयो भूप के पास, चित्त दै सुन्यो स्वप्न सब;
 कह्यो विनय के सहित “सुनौ, हे महाराज ! अब ।
 धन्य धन्य यह धाम जहाँ सौँ निश्चय बढ़िहै
 भुवनव्यापिनी प्रभा प्रभाकर सौँ जो बढ़िहै ।
 सात स्वप्न जो तुम्हें, नृपतिवर ! परे लखाई,
 हैँ वे मंगल सात जगत् में जैहैं छाई ।
 इंद्रध्वजा लखि परी तुम्हें जो पहले भारी
 टुक टुक हूँ गिरति, लुटति पुनि छन में सारी,
 सुरन जनायो स्वप्न लाय सो केतुपतन को
 नए धर्म को उदय, अंत प्राचीन मतन को ।
 एक दशा नहिँ रहति होयँ चाहै सुर वा नर;
 बाही भाँति बिहात कल्प ज्यों बीतत वत्सर ।
 भूमि कँपावनहार परे लखि जो दस वारण
 गुनौ तिन्हें दस शील जिन्हें अब करिकै धारण

राजपाट, घर बार छाँड़िहै कुँवर तिहारो
 सत्य माग को खोलि कैपैहै यह जग सारो ।
 रथ के घोड़े चार रहे ज्वाला जो उगिलत
 ऋद्धिपाद ते चार कुँवर करि जिन्हें हस्तगत
 सारे संशय अंधकार को काटि बहैहै;
 अतिशय प्रखर प्रकाश ज्ञान को ताहि सुझैहै ।
 स्वर्णनाभि युत चक्र लख्यो जो अति उजियारो
 धर्मचक्र सो जाहि फिरैहै कुँवर तिहारो ।
 औ दुंदुभी विशाल कुँवर जो रह्यो बजावत,
 जाको घोर निनाद गयो लोकन में यावत्
 सो गर्जन गंभीर विमल उपदेशन केरो,
 जिन्हें सुनैहै कुँवर करत देशन में फेरो ।
 और धौरहर उठत पर्यो लखि जो नभ ऊपर
 बुद्धशास्त्र सो, जो चलि जैहै बढ़त निरन्तर ।
 गिरत रत्न अनमोल शिखर सों जो देखे पुनि
 सुर-नर-वांछित तिन्हें धर्म उपदेश लेहु गुनि ।
 रोवत जो मुख ढाँपि अंत छः पुरुष लखाने
 रहे पूर्व आचार्य, जात जो अब लौ माने ।
 दिव्य ज्ञान औ अटल वाद सों कुँवर तिहारो
 तिन्हें सुझैहै हेरि हेरि तिनको भ्रम सारो ।

महाराज ! आनंद करौ, तव सुत की संपत्ति
 सकल भुवन के राजपाट सों है बढ़िकै अति ।

तन पै वास कषाय कुँवर जो धारण करिहै
 स्वर्ण-खचित वस्त्रन सों सो अनमोल ठहरिहै ।
 यहै स्वप्न को सार; नृपति ! अब बिदा माँगिहैं,
 बीते वासर सात बात ये घटन लागिहैं ।”
 यों कहि ऋषि भू परसि दंडवत करत सिधाए;
 धन दै दूतन हाथ ताहि नृप देन पठाए ।
 किन्तु आय तिन कह्यो “सोम के मन्दिर माहीं
 जात लख्यो हम ताहि; गए जब तहँ कोउ नाहीं ।
 केवल कौशिक एक मिल्यो तहँ पंख हिलावत ।”
 कबहुँ देवगण भूतल पै याहा बिधि आवत ।
 चकित भयो अति समाचार जब नृप यह पायो;
 अति उदास है मंत्रिन को आदेश सुनायो—
 “नए भोग रचि और कुँवर को रखौ लुभाई ।
 दूनी चौकी जाय फाटकन पै बैठाई ।”

होनी कैसे टरै ? कुँवर के मन यह आई,
 फाटक बाहर और लखें जग की गति जाई;
 देखें जीवन को प्रवाह जो अति सुहात है;
 काल-मरुस्थल जाय, हाय ! पै सो बिलात है ।
 बिनती कीन्ही जाय पिता सों यों कुमार तब—
 “चहौ देखिबो पुर जैसो है वैसोई अब ।

बा दिन तो अनुशासन फेर्यो पुर में सारे
 रहैं न दुख के दृश्य मार्ग में कोउ हमारे,
 मम प्रसन्नता हेतु बनैँ बरबस प्रसन्न सब,
 हाट बाट में होत रहैं बहु मङ्गल उत्सव ।
 पै मैं लीनो जानि नित्य को नहिं सो जीवन
 देख्यो जो मैं अपने चारों ओर मुदित मन
 यदि मेरो संबंध राज्य सौँ तुम्हरे नाते
 जानन चाहिए गली गली की मोकों बातें,
 तिन दीनन की दशा चूर जो हैं श्रम माहीं,
 रहन सहन तिन लोगन की जो नरपति नाहीं ।
 आज्ञा मोको मिलै जाहुँ मैं छद्म वेश गहि ।
 सुख तिनको या बार निरखि मैं फिरौँ मोद लहि !
 यदि हँ हौँ नहिं सुखी, बाढ़िहै अनुभव जानो ।
 मिलै मोहिं आदेश फिरौँ पुर में मनमानो ।
 सुनि इन बातन को महीप बोले मंत्रिन प्रति—
 “संभव है या बार कुँवर की फिरै कछु मति ।
 करि प्रबंध अब देहु नगर देखै सो जाई ।
 कैसो वाको चित्त सुनाओ मोको आई ।”

दूसरे दिन कढ़े छंदक साथ राजकुमार,
 चले बाहर फाटकन के नृप वचन अनुसार ।

बन्यो बणिक कुमार, छंदक बन्यो तासु मुनीम ।
पाँव प्यादे चले दोऊ लखत भीर असीम ।

जात पुरजन में मिले नहिं तिन्हें चीन्हत कोउ ।
बात सुख औ दुःख की वे जात देखत दोउ ।
गली चित्रित लखि परैं औ उठत कलरव घोर ।
बणिक बैठे धरि मसाले अन्न चारों ओर ।

हाथ में लै वस्तु गाहक मोल करत लखात—
“दाम एतो नाहिं एतो लेहु, मानौ बात ।”
‘हटौ छाँड़ौ राह’ ऐसी टेर कतहुँ सुनाति;
मरमराती बोझ सों है बैलगाड़ी जाति ।

कूप सों भरि कलश जातीं गृहबधू सिर धारि,
एक कर सों गोद में निज चपल शिशुहिं सँभारि ।
है मिठाई की दुकानन पै भँवर की भीर ।
तंतुवाय पसारि तानो बिनत हैं कहुँ चीर ।

कतहुँ धुनिया धुनत रूई ताँत को झननाय ।
चलति चक्की कतहुँ, कूकर खड़े पूँछ हिलाय ।
कतहुँ शिल्पी हैं बनावत कवच औ करवाल ।
बैठि कतहुँ लुहार पीटत फावड़ो करि लाल ।

बैठि गुरु के सामने कहूँ अर्द्धचंद्राकार
 शिष्य सीखत वेद हैं करि मंत्र को उच्चार ।
 कुसुम, आल, मजीठ सों रँगि, दोउ कर सों गारि
 धूप में रँगहार गीले बसन रहे पसारि ।

जात सैनिक ढाल बाँधे, खड्ग को खड़काय ।
 ऊँटहारो ऊँट पै कहूँ बैठि भूमत जाय ।
 विप्र तेजस्वी मिलैं औ धीर क्षत्रिय वीर;
 कठिन श्रम में हैं लगे कहूँ शूद्र श्यामशरीर ।

कहूँ सँपेरो बैठि पथ के तीर करत पुकार,
 भाँति भाँति भुजंग के धरि अंग जंगम हार ।
 श्वेत कौड़िन सों टँको महुवर बजाय बजाय
 रह्यो कारे काल को फुफकार सहित नचाय ।

पालकी लै बधू लावन भीर सजि कै जाति;
 संग सिंघे औ नगारे, चपल कोतल पाँति ।
 कहूँ देवल पै बधू कोउ फूल माल चढ़ाय
 फिरैं पिय परदेस सों यह रही जाय मनाय ।

पीटि पीतर कहूँ ठठेरे रहे 'ठन ठन' ठानि
 ढारि लोटे औ कटोरे, धरत दीवट आनि ।
 बड़े आगे जात दोऊ फाटकन के पार
 धरि तरंगिनि-तीर-पथ जहँ नगर को प्राकार ।

मारग के इक ओर पर्यो सुनि यह आरत स्वर
 “हाय ! उठाओ, मर्यो पहुँचिहौ मैं कैसे घर ?”
 एक अभागो जीव कुँवर को पर्यो लखाई,
 पर्यो धूरि में घोर व्याधि सों अति दुख पाई ।
 सारो तन छत विछत, स्वेद छायो ललाट पर;
 रह्यो ओंठ चढ़ि दुसह व्यथा सों, मीजत है कर
 कढ़ी परति है^५ आँखि, वेदना कठिन सहत है;
 हाँफि हाँफि कर टेकि भूमि पै उठन चहत है ।
 आधो उठि इक बार पर्यो गिरि काँपत थर थर;
 बेबस उठ्यो पुकारि “धरौ कोऊ मेरो कर ।”
 दौरि पर्यो सिद्धार्थ, बाहँ गहि दियो सहारो;
 निरखि नेह सों तासु सीस निज उरु पै धारो ।
 पूछन लाग्यो “बंधु ! दशा है कहा तिहारी ?
 सकत न क्यों उठि ? कहौ, कौन सो दुख है भारी ।
 छंदक ! क्यों यह परो कराहत बिलबिलात है ?
 हाँफि हाँफि कछु कहि उसास क्यों लेत जात है ?”
 कह्यो सारथी “सुनौ, कुँवर ! यह व्याधिग्रस्त नर;
 या के तन के तत्त्व बिलग ह्वै रहे परस्पर ।
 सोइ रक्त जो रह्यो अंग में बल बगरावत
 भीतर भीतर मथत सोइ अब तनहिं तपावत ।
 भरि उछाह सों कबहुँ हृदय जो उमगत रहि रहि
 धरकत फूटी ढोल सरिस सोई अब दुख सहि ।

खसी धनुष की डोर सरिस नस नस भईं ढीली ।
 बूतो तन को गयो, नई ग्रीवा गरबीली ।
 जीवन को सौंदर्य और सुख गयो बिलाई ।
 है यह रोगी जाहि पीर अति रही सताई ।
 देखौ, कैसो रहि रहि कै ऐंठत सारो तन !
 कढ़ी परति हैं आँखि, पीर सों टीसत दाँतन ।
 चाहत मरिबो किंतु मृत्यु तौ लौं नहिं ऐहै
 जौ लौं तन में भोग ब्याधि अपनो न पुरैहै ।
 जोड़ जोड़ के बंधन सारे जब उखारिहै,
 नाड़िन सों सब प्राणशक्ति क्रमशः निकारिहै,
 दैहै याको छाँड़ि, जाय परिहै कहूँ अनतहि ।
 दूर रहौ, हे कुँवर ! ब्याधि कहूँ लगै न आपहि ।”
 लिए रह्यो पै ताहि, कुँवर बोल्यो यह बानी—
 “औरहु हूँ हैं परे अनेकन ऐसे प्राणी ।
 बोलौ साँची, कहा याहि गति सब ही पैहैं ।
 है यह जैसो आज कबहुँ हम हूँ हूँ जैहैं ?”
 कह्यो सारथी “ब्याधि कबहुँ है आवसि सतावति;
 काहु न काहू रूप माहिं है सब पै आवति ।
 मूर्च्छा औ उन्माद, बात, पित, कफ, जूड़ी, जर,
 नाना विधि व्रण, अतीसार औ यकृत, जलंधर
 भोगत हैं सब, बचत कतहुँ है कोऊ नाहीं
 रक्त मांस के जीव जहाँ लौं हैं जग माहीं ।

ब्रूमत फेरि कुमार “मोहिँ यह देहु बताई,
 परत न आवत जानि कहा ये दुख सब, भाई !”
 छंदक बोल्यो “दबे पाँव ये ऐसे आवत
 ज्यों विषधर चुपचाप आय निज दाँत धँसावत;
 अथवा भाड़िन बीच बाध ज्यों लुको रहत है,
 भपटत है पुनि घात पाय जब जहाँ चहत है;
 अथवा जैसे बज्र परत नभ सों घहराई,
 दलत काहु को और काहु को जात बचाई ।”
 कह्यो कुँवर “तब तो सब को सब घरी रहत भय ?”
 सारथि सीस हिलाय कह्यो “यामें का संशय ?”
 कह्यो कुँवर “तब तौ कोऊ यह सकत नाहिँ कहि
 सोवत सुख सों आज जागिहैं कालिहु ऐसहि”
 “कोउ कहत यों नाहिँ, कुँवर ! या जग के माहीं;
 छन में ह्वै हैं कहा कोउ यह जानत नाहीं ।”
 कह्यो कुँवर “है अंत कहा सब दुःखन केरो
 यहै जरा, तन जर्जर औ मन शिथिल घनेरो ?”
 उत्तर दियो सुजान सारथी “हाँ, कृपालुवर !
 इते दिनन लौं जीवत जो रहि जायँ नारि नर ।”
 “पै न सकै यदि भोगि ताप कोउ एतो दुःसह,
 अथवा भोगत भोगत होवै है जैसो यह;
 रहै साँस ही चलत, जाय सो दिन दिन थाको,
 अति जर्जर ह्वै जाय; कहा पुनि ह्वै है ताको ?”

“मरि जैहै सो, कुँवर !” कह्यो छंदक निःसंशय
 “काहू विधि, कोउ घरी मृत्यु आवति है निश्चय ।”

देखी दीठि उठाय कुँवर पुनि भीर अगारी,
 रोवति पीटति जाति नदी की ओर सिधारी ।
 “राम नाम है सत्य” सबै हैं रहि रहि टेरत;
 सीस नवाये जात, कतहुँ इत उत नहिं हेरत ।
 पाछे बिलपत जात मृतक के घर के प्रानी,
 इष्ट मित्र औ बंधु दुःख सम उर में आनी ।
 चले जात तिन बीच चार जन पाँव बढ़ाए,
 हरे हरे बाँसन की अर्थी काँध उठाए,
 जापै काठ समान परो दरसात मृतक नर—
 कोख सटी, पथराई आँखें, वदन भयंकर ।
 ‘राम नाम’ कहि लोग ताहि लै गए नदी पर
 जहाँ चिता है सजी राखि जल सों कछु अंतर ।
 दीनों तापै पारि काठ ऊपर सों डारी
 कैसी सुख की नींद इतै सोवत नर नारी !
 शीत घाम को क्लेश नाहिं पुनि तिन्हें जगावत ।
 चारि कोन पै, लखौ, आगि है” लोग लगावत ।
 धीरे धीरे दहकि लई सो शव को घेरी;
 लाँबी जीभ लफाय माँस चाटत चहुँ फेरी ।

सनसनात है चर्म सीम्भि, करकत हैं बंधन ।
 परो पातरो धूम, राख हूँ छितरानो तन !
 केवल भूरी भस्म बीच अब जात निहारे
 श्वेत अस्थि के खंड—शेष नरतनु के सारे ।

कह्यो कुँवर पुनि “कहा यहै सब की गति हूँ है ?”
 छंदक बोल्यो “अंत यहै सब पै बनि ऐहै ।
 इतो अल्प अवशेष चिता पै रह्यो जासु जरि
 भूखे काक अघात न त्यागत ‘काँव काँव’ करि
 खात पियत औ हँसत रह्यो जीवन-अनुरागो
 भोंको याही बीच बात को तन में लागो,
 अथवा ठोकर लगी, ताल में जाय तरायो,
 सर्प डस्यो कहूँ आय, कुपित अरि अस्त्र धँसायो,
 सीत समानी अंग, ईट सिर पै भहरानी,
 भयो प्राण को अंत, मर्यो तुरतहि सो प्राणी ।
 पुनि ताको नहिं जुधा दुःख औ सुख जग माहीं ।
 मुखचुंबन औ अनलताप ताको कछु नाहीं ।
 नहिं चिरायन गंध मांस की अपने सूँघत;
 और न चंदन अगर चिता के ताको महकत ।
 स्वादज्ञान रसना सेा बाके सबै गयो ढरि;
 श्रवणशक्ति नसि गई, नयन की ज्योति गई हरि ।

रही न देहहु, द्योय छार छन माहिँ बिलानी ।
 जिनसेँ वाको नेह आज ते विलपत प्रानी ।
 रक्त मांस के जीवन की सब की गति याही;
 ऊँच नीच औ भले बुरे सब मरत सदा ही ।
 कहत शास्त्र मरि जीव फेर जनमत हैं जाई
 नई देह धरि कहाँ कहाँ, को सकै बताई ।”

नीर भरे निज नयन कुँवर नभ ओर उठाई,
 दिव्य दया सेँ दीस दृष्टि इत उत दौराई ।
 नभ सेँ भू लौ, भू सेँ नभ लौ रखो निहारी;
 मानो ताकी दृष्टि सृष्टि छानति है सारी
 पैवे हित सो झलक गई जो कहूँ दूर परि,
 जासेँ दुःखनिदान परत लखि एक एक करि ।
 प्रेमदाह सेँ दमक्यो आनन आशापूरो,
 उठ्यो पुकारि अधीर “अहो ! जग दुख सेँ भूरो,
 रक्त मांस के जीव ज्ञात अज्ञातहु सारे !
 काल क्लेश के जाल बीच जो परे बेचारे,
 देखत हौं या मर्त्यलोक की पीड़ा भारी
 औ असारता याके सुख वैभव की सारी,
 नीकी तें नीकी याकी वस्तुन को धोखो
 और बुरी तें बुरी वस्तु को ताप अनोखो ।

सुख पाछे दुख औ वियोग संयोग अनंतर,
 यौवन पाछे जरा, जन्म पै मरण लहत नर ।
 मरिबे पै पुनि कैसे कैसे जन्म न जाने;
 राखत यों यह चक्र नाधि सब जीव भुलाने
 भरमावन को तिनको भूठे आनँद माहीं
 औ अनेक संतापन में जो भूठे नाहीं ।
 मोहूँ को यह भ्रांतिजाल चाह्यो बिलमावन,
 जासेँ जीवन मोहिं पर्यो लखि परम सुहावन ।
 लग्यो मोहिं जीवनप्रवाह वा सरि सम सुंदर
 रविरंजित सुख-शांति-सहित जो बहति निरंतर ।
 पै अब देखैँ वाकी धारा के हिलोर सब
 हरे कछारन सोँ उछरत हैं जात एक ढब
 केवल निर्मल नीर आपनो अंत गिरावन
 खारे कडुए सागर में जो परम भयावन ।
 गयो सरकि जो परो रह्यो परदो आँखिन पर
 वैसे ही हैं हमहुँ एक जैसे हैं सब नर,
 अपने अपने देवन को जो परे पुकारत,
 किंतु सुनत जब नाहिं कोउ तब हिय में हारत ।
 हैहै किंतु उपाय अवसि कोऊ जो हेरो
 तिनके, मेरे और सबन के दुःखन केरो ।
 चाहत आप सहाय देव सामर्थ्यहीन जब
 कहा सकै करि दीन दुखिन की सुनि पुकार तब ?

होय मोहिं सामर्थ्य बचावन की कछु जाको
 जान देहु मैं यों पुकारिबो विफल न ताको ।
 है कैसी यह बात रचत ईश्वर जग सारो
 पै राखत है सदा दुःख में ताहि, निहारो !
 सर्वशक्तिमत् है राखत यदि सृष्टि दुखारी
 करुणामय सो नाहिँ और ना है सुखकारी ।
 और नाहिँ यदि सर्वशक्तिमत्, ईश्वर नाहीं ।
 बस, छंदक, बस ! बहुत लख्यो मैं एते माहीं ।”

सुनी नृपति यह बात, घोर चिंता चित छार्ई;
 दोहरी, तिहरी फाटक पै चौकी बैठाई ।
 बोल्यो “कोऊ जान न भीतर बाहर पावै”
 स्वप्न घटन के दिन न बीति सब जौ लौं जावैं ।”

चतुर्थ सर्ग

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान् हमारे
तजि अपनो घर बार घोर बन ओर सिधारे ।
जासों पर्यो खभार राजमंदिर में भारी,
शोकविकल अति भूप, प्रजा सब भई दुखारी ।
पै निकस्यो निस्तारपंथ प्राणिन हित नूतन;
प्रगट्यो शास्त्र पुनीत कटैं जासों भवबंधन ।

महाभिनिष्क्रमण

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी ।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी ।
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई,
सीँकन में गुछि भूलि रहीं जो मंद भकोरन पाई ।
चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप टप' शब्द सुनावैं
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावैं ।
महकति कतहुँ अशोकमंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माहीं
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे है नाहीं ।

छिटकी विमल विश्रामवन पै यामिनी मृदुताभरी
वासित सुगंध प्रसूनपरिमल सेाँ, नछत्रन सेाँ जरी ।
ऊँचे उठे हिमवान की हिमराशि सेाँ मनभावनी
संचरति शैल सुवायु शीतल मंद मंद सुहावनी ।

चमकाय शृंगन चंद्र चढ़ि अब अमल अंबरपथ गह्यो;
भलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यो ।
रसधाम के बाँके मुँडेरन पै रही द्युति छा़य है
जहँ हिलत डोलत नाहिँ कोऊ कतहुँ परत लखाय है ।

बस हाँक केषल फाटकन पै पाहरुन की सुनि परै,
जहँ एक 'मुद्रा' कहि पुकारत एक 'अंगन' धुनि करै ।
बजि उठत तोरणवाद्य है, पुनि भूमि नीरवता लहै ।
है कबहुँ बोलत फेरु, पुनि भनकार भीँगुर की रहै ।

भवन भीतर जाति जालिन बीच सेाँ छनि चाँदनी
भीति पै औ भूमि पै जो सीप मर्मर की बनी ।
किरनमाल मयंक की तरुनीन पै है परि रही ।
स्वर्ग बिच विश्रामथल अमरीन को मानो यही ।

कुमार के रंगनिवास की हैँ अलबेली नवेली तहाँ रमनी ।
लसै छवि सोवत मेँ मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी,
परै कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लागति सुंदरि ऐसी घनी
यहै कहि आवत है मन में 'सब में यह रत्न अमोल धनी ।'

पै बढ़ि सुंदरि एक सौँ एक लखाति अनेक हैँ पास परी ।
 मोद में माति फिरैं अँखियाँ तहँ रूप के राशि के बीच भरी;
 रत्न की हाट में दौरति ज्यों मणि तें मणि ऊपर दीठि छरी,
 लोभि रहै प्रति एक पै जौ लागि और की ओर न जाय ढरी ।

सोवतीं सँभार बिनु सोभा सरसाय, गात
 आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर ।
 चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैँ कुसुमदाम,
 कारे सटकारे कहूँ लहरत लंक पर ।
 सोवैँ थकि हास औ विलास सौँ पसारि पायँ,
 जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर ।
 पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौँ
 जौ लौँ न प्रभात आय खोलन कहत स्वर ।

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंधभरे
 जगमग होत भौन भीतर उजास करि ।
 आभा रंग रंग की दिखाय रहीँ तासौँ मिलि
 किरन मयंक की झरोखन सौँ ढरि ढरि ।
 जामें है नवेलिन की निखरी निकाई अंग
 अंगन की, वसन गए हैँ कहूँ नेकु टरि ।
 उठत उरोज हैं उसासन सौँ बार बार,
 सरकि परे हैं हाथ नीचे कहूँ ढीले परि ।

देखि परै साँवरे सलोने, कहूँ गोरे मुख,
भ्रुकुटी विशाल बंक, बरुनी बिछी हैं श्याम ।
अधखुले अधर, दिखात दंतकोर कछु
चुनि धरे मोती मानो रचिबे के हेतु दाम ।
कोमल कलाई गोल, छोटे पायँ पैजनी हैँ,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूँ कोऊ वाम ।
स्वप्न दृष्टि जात वाको जामें सो रही है पाय
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम ।

है कै परी लाँबी कोऊ बीना लै कपोल तर,
आँगुरी अरुभि रहीं अब ताँइ तार पर
वाही रूप जैसे जब कढ़ति सो तान रही
भूमि रस जाके झपे लोचन विशाल वर ।
लै कै परी कोऊ मृगशावक हिये तें लाय;
सोय गयो दुँगत कुसुम पाय तासु कर ।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच,
पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर ।

सखियाँ द्वै आपस में जोरि गर गईँ सोय
गुहत गुहत गुच्छ मोगरे को महकत;
प्रेमपाश-रूप रह्यो बाँधि अंग अंगन जो
अंतस् सो अंतस् मिलावत न सरकत ।

सोयबे के प्रथम पिरोवति रही है कोउ
कंठहार हेतु मोती मानिक औ मरकत ।
सूत में पिरोए रहे अरुभि कलाई बीच
रंग रंग को प्रकाश तिनसों है भलकत ।

उपवन भेंटती नदी को कल नाद सुनि
सोई सब विमल बिछावन पै पास पास ।
मूँदि दल नलिनी अनेक रहीं जोहि मनो
भानु को प्रकाश, जाहि पाय होत है विकास ।
कोठरी कुमार की लखाति जाके द्वार बीच
दमकि सुरंगपट रहे पाय कै उजास ।
ताके दोऊ ओर गंगा गौतमी सलोनी सोई
रसधाम बीच जो प्रधान हैं करै निवास ।

लगे द्वार पै चंदन के हैं चित्रित चौखट;
कनककलित बहु परे मनोहर अरुण नील पट ।
चढ़ि कै सीढ़ी तीन परत है जिनके भीतर
अति विचित्र आवास कुँवर को परम मनोहर;
रेशम की गुलगुली सेज जहँ सजी सुनिर्मल
लगति कमलदल सरिस अंग तर जो अति कोमल ।
भीतिन पै हैं मोतिन की पटरी बैठाई,
सिंहल की सीपिन सों जो हैं गई मँगाई ।

सित मर्मर की छत पै सुंदर पक्षीकारी,
 रंग रंग के नग जड़ि कै जो गई सँवारी ।
 विविध वर्ण की बनी बेलबूटी मन मोहति ।
 कटी झरोखन बीच चित्रमय जाली सोहति,
 जिनसों खिली चमेलिन को सौरभ है आवत
 चंद्रकिरण, शीतल समीर को संग पुरावत ।
 भीतर सुषमा लसति नवल दंपति की भारी—
 शाक्य कुँवर है बसत, लसति गोपा छबिवारी ।

यशोधरा उठि परी नींद सों कछु अकुलाई,
 उर सों अचल सरकि रह्यो कटि सों लपटाई ।
 रहि रहि लेति उसास, हाथ भौंहन पै फेरति,
 भरे विलोचन वारि चाहि निज पिय दिशि हेरति ।
 तीन बार कर चूमि कुँवर को बोली सिसकति
 “उठौ, नाथ ! मो को बचनन सों सुखी करौ अति ।”
 कह्यो कुँवर “है कहा ? प्रिये ! मोहिं कहौ बुझाई ।”
 पै सिसकति सो रही, बात मुख पै नहिं आई ।
 पुनि बोली “हे नाथ ! गर्भ में शिशु जो मेरे
 सोचति ताकी बात सोय मैं गई सबेरे ।
 लखे भयानक स्वप्न तीन मैं अति सुखघाती,
 करिकै जिनको ध्यान अजहुँ लौं धरकति छाती ।

एक श्वेत वृष अति विशालवपु परयो लखाई
 घूमत बीथिन बीच विपुल निज शृंग उठाई,
 उज्ज्वल निर्मल रत्न एक धारे मस्तक पर
 दमकत जो ज्यों परो दूटि तारो अति द्युतिधर,
 अथवा जैसो नागराज को मणि द्युतिवारो
 जासों होत पताल बीच दिन को उजियारो ।
 मंद मंद पग धरत गलिन में चल्यो वृषभ बढ़ि
 नगर द्वार की ओर; रोकि नहिँ सक्यो कोउ कढ़ि ।
 भई इंद्रमंदिर सों वाणी यह विषादमय—
 'जो न रोकिहौ याहि नगरश्री नसिहै निश्चय ।'
 जब कोऊ नहिँ रोकि सक्यो तब मैं बिलखाई,
 ताके गर भुजपाश डारि मैं लियो दबाई ।
 आज्ञा दीनी द्वार बंद करिबे की मैं पुनि;
 पै सो कंध हिलाय, गर्व सों करि भीषण धुनि
 तुरत छूटि मम अंक बीच सों धायो हँकरत,
 तोरण-अर्गल तोरि भज्यो पहरन को कचरत ।
 दूजे अद्भुत स्वप्न माहिँ मैं लख्यो चारि जन,
 नयनन सों कढ़ि रख्यो तेज जिनके अति छन छन,
 मानो लोकप चलि सुमेर तें भू पै आए,
 देवन को लै संग रहे या पुर में छाए ।
 जहाँ द्वार के निकट इंद्र की ध्वजा पुरानी
 गिरी दूटि अरराय, कँपी सिगरी रजधानी ।

दिव्य केतु पुनि उठ्यो एक औरहि तहँ फहरत;
 रजततार में टँके अनल सम मानिक छहरत;
 जासैं कढ़ि बहु किरन शब्दरूपी छितरानी,
 सुनि जिनको भे मुदित जगत के सारे प्रानी ।
 मृदु भक्कोर सोँ चल्यो पूर्वसों प्रात समीरन,
 रत्नजटित सो केतु पसारयो, पढ़ैं सकल जन ।
 भरे अलौकिक कुसुम न जाने कित सोँ आई;
 रूप रंग में वैसे ह्याँ नहिँ परैं लखाई ।”

कह्यो कुँवर “हे कमलनयनि ! सपनो यह सुंदर ।”
 बोली सो “हे आर्यपुत्र ! आगे है दुखकर ।
 गगनगिरा सुनि परी ‘समय आयो नियराई ।’
 याके आगे स्वप्न तीसरो परयो लखाई ।
 हेरयो मैं, हे नाथ ! हाय, निज पार्श्व ओर जब
 पायो सूनी सेज, तिहारे वसन परे सब ।
 चिह्न मात्र तव रहे, छाँड़ि तुम मोहिँ सिधारे,
 जो मेरे सर्वस्व, प्राणधन, जीवन, प्यारे ।
 देखति हौं पुनि मोतिन को कटिबंध तिहारो
 लपट्यो मेरे अंग, भयो अहि दंशनवारो ।
 करके कर के कंगन और केयूर गए नसि;
 बेणी सोँ मुरझाय मल्लिकादाम परे खसि ।

यह सोहाग की सेज रही भू माहिं समाई;
 द्वारन के पट चीथि उठे आपहि उधिराई ।
 सुन्यो दूर पै फेरि श्वेत वृषभहि मैं हँकरत,
 और लख्यो सोइ केतु दूर पै दमकत फहरत ।
 पुनि बानी सुनि परी 'समय आयो नियराई ।'
 उठ्यो करेजो काँपि, परी जगि मैं अकुलाई ।
 इन स्वप्न को अर्थ याहि या तो मैं मरिहैं
 अथवा तजिहौ मोहिं, मृत्यु ते बढ़ि दुख भरिहैं ।”

अथवत दिनकर सम आभा मृदु नयनन धारी
 रह्यो कुँवर निज दुखित प्रिया की ओर निहारी ।
 बोल्यो पुनि “हे प्रिये ! रहौ तुम धीरज धारे,
 यदि धीरज कछु मिलै प्रेम में तुम्हें हमारे ।
 चाहै आगम कछू स्वप्न ये होयँ जनावत
 औ देवन को आसन होवै डिग्यो यथावत,
 औ निस्तार उपाय जगत चाहत कछु जानन
 हम तुम पै जो चहै परै राखौ निश्चय मन—
 यशोधरा सेँ रही प्रीति मम जुग जुग जोरी,
 औ रहिहै सो सदा, नेकु नहिं हूँ है थोरी ।
 जानति हौ तुम केतो सोचत रहौ राति दिन
 या जग को निस्तार जाहि देख्यो आँखिन इन ।

समय आयहै हूँ है जो कछु होनो सोऊ ।
 जो कछु हम पै परै सहेँ हम तुम मिलि दोऊ ।
 जो आत्मा मम व्यथित अपरिचित जीवन के हित,
 जो परदुख लखि दुखी रहत हौँ मैं ऐसो नित,
 सोचौ तो, मन मेरो बिहरणशील उच्चतर
 रहिहै कैसेो लगो सदा घर के प्रानिन पर,
 जो साथी मम जीवन के, मोको सुखकारी;
 जिनमें सब सेँ बड़ि अभिन्न तुम मेरी प्यारी ।
 गर्भ माहिँ तम मम शिशु की हौ धारनवारी,
 जासु आस धरि मिली देह सेँ देह हमारी ।
 जब मेरो मन भटकत चारों दिशि जल थल पर
 बँध्यो प्रेम में जीवन के या भाँति निरंतर—
 उड़ति कपोती बँधी प्रेम मेँ ज्यों शिशु के नव—
 मन मेरो मँड़राय बसत है आय पास तब ।
 कारण यह, मैं जानत हौँ तुमको सुशील अति,
 सब सेँ बड़ि आपनी, परम कोमल उदारमति ।
 सो अब जो कछु परै आय तुम पै, हे प्यारी !
 करि लीजौ तुम ध्यान श्वेत वृष को वा भारी
 औ वा रत्नजड़ी ध्वजा को गइ जो फहरति;
 पुनि रखियो मन माहिँ आपने यह निश्चय अति—
 सब सेँ बड़ि कै सदा तुम्हैँ चाह्यौ औ चहिहौँ,
 सब के हित जो वस्तु रख्यौ खोजत औ रहिहौँ,

ताहि तिहारे हेतु खोजिहैं अधिक सबन सों;
 धीरज याते धरौ छाँड़ि चिंता सब मन सों ।
 परै दुःख जो कछू धीर धरियो गुनि यह चित
 होय कदाचित् हम दोउन के दुख सों जगहित ।
 सत्य-प्रेम-प्रतिकार सकै कोऊ जेतो चहि
 प्रीति निहोरे जेतो कोउ रसभोग सकै लहि
 लहौ सकल तुम आलिंगन में मम, हे प्यारी !
 स्वार्थभाव अति अबल प्रेम के बीच बिचारी ।
 चूमौ मम मुख, पान करौ ये वचन हमारे;
 जानौगी तुम और न जाके जाननहारे ।
 सब सों बढ़ि कै प्रीति करी तुमसों मैं, प्यारी !
 कारण, मेरी प्रीति सकल प्राणिन पै भारी ।
 प्राणप्रिये हे ! सुख सों सोओ तुम निधरक अब
 हैं बैठो मैं पास तिहारे औ निरखत सब ।”

सजल नयन सों सोय रही सो सिसकति रोवति;
 ‘समय गयो अब आय’ स्वप्न सो पुनि यह जोवति ।
 उलटि कुँवर सिद्धार्थ रह्यो नभ ओर निहारी,
 चमकत उज्ज्वल चंद्र, विमल फैली उजियारी ।
 बीच बीच में कतहुँ रजत सी आभा धारे
 मिलि कै मानो रहे यहै कहि सारे तारे—

“यहै रैनि सो, गहौ पंथ चाहौ जो हेरा,
 सुख वैभव को अपने वा जगमंगल केरो ।
 चहै करौ तुम राज चहै भटकौ तुम उत इत
 मुकुटहीन जनहीन—होय जासेँ जग को हित ।”

कह्यो सो “मैं अबसि जैहौ घरी पहुँची आय;
 रहे, सोवनहारि ! तव ये मृदुल अधर बताय
 करन को सो कटै जासेँ जगत को भवरोग;
 यदपि मोसेँ और तोसेँ ह्वै न जाय वियोग ।

गगन की निस्तब्धता में मोहिं भलकत आज
 जगत् में आयों करन हित कौन सो मैं काज ।
 रहे सबै बताय आयों हरन को भवभार ।
 चहौँ मैं नहिं मुकुट जापै वंशगत अधिकार ।

तजत हौँ वे देश जिनको जीततो मैं जाय ।
 नाहिं मेरो खड्ग खुलि अब चमकिहै तहँ धाय ।
 रुधिर-सनि रथचक्र मेरे घूमिहैं नहिं घोर
 रक्तअंकित करन को मम नाम चारो ओर ।

फिरन चाहौँ धरा पै मैं धरि अकलुषित पाँव;
 धूरि ह्वैहै सेज मेरी, बास सूनो ठाँव ।
 तुच्छ ते' अति तुच्छ मेरे वस्तु रहिहैं संग ।
 चुनि पुराने चीथरे ही धारिहौँ मैं अंग ।

कोउ दैहै खायहैं सो और व्यंजन नाहिँ ।
वास करिहैं गिरिगुहा औ विपिन भाड़िन माहिँ ।
अवसि करिहैं मैं यहै, है परत मेरे कान
सकल जीवन को जगत के आर्त्तनाद महान् ।

हृदय उमगत है दया सेाँ देखि भवरुज घोर,
दूर जाको करन चाहैं चलै जहँ लौं जोर ।
शमन करिहैं याहि, जो कछु उचित शमन उपाय
कठिन त्याग, विराग और प्रयत्न सेाँ मिलि जाय ।

हैं अनेकन देव, इनमें कौन सदय समर्थ ?
काहु ने देख्यो इन्हें जो करत सेवा व्यर्थ ?
निज उपासक नरन की ये करें कौन सहाय ?
लोग करि आराधना इनकी रहे का पाय ?

करत विविध विधान सेाँ पूजा अनेक प्रकार,
धरत हैं नैवेद्य बहु, करि मंत्र को उच्चार ।
हनत यज्ञन माहिँ बलि के हेतु पशु बिललात
औ उठावैं बड़े मंदिर जहँ पुजारी खात ।

विष्णु, शिव औ सूर्य की कीनी अनेक पुकार,
पै भले तें भले को नहिँ कियो इन उद्धार ।
नहिँ बचायो ताप तें वा जो सिखावनहार
ठकुरसोहाती, भयस्तुति के अनेक प्रकार ।

इन उपायन सेँ बच्च्यो मम बंधु कोउ बिहाल
 कठिन रोग, वियोग, नाना क्लेश सेँ विकराल ?
 कौन जूड़ी और ज्वर सेँ बच्च्यो या जग आय ?
 कौन जर्जर-क्षीणकारी जरा सेँ बचि जाय ?

भई रक्षा कौन की है मृत्यु सेँ अति घोर ?
 पर्यो है भवचक्र में नहिँ कौन इनके जोर ?
 नए जन्मन संग उपजत नए क्लेश अपार;
 वासना को वंश बाढ़त अंत जासु विकार ।

कौन सी सुकुमारि नारी लखो या संसार
 कठिन व्रत उपवास को फल, भजन को प्रतिकार ?
 भई काहू की प्रसव की वेदना कछु थोरि
 दही दूर्वा जो चढ़ावति विनय सेँ कर जोरि ?

होयेंगे कोउ देव नीके, कोउ बुरे इन माहिँ
 किंतु मानव दशा फेरै कोउ ऐसो नाहिँ ।
 होयेंगे निर्दय सद्य ज्यों नरन में दरसात,
 पै बँधे भवचक्र में सब रहत फेरे खात ।

है हमारे शास्त्र को यह वचन सत्य प्रमान
 'जन्म को यह चक्र घूमत रहत एक समान ।'
 होत हैं आरोग्यक्रम में जीव जो अवदात
 कीट, खग, पशु सेँ मनुज हैं देवयोनिन जात ।

सोइ परि अवरोह में पुनि कीट उष्मज होत ।
हैं जहाँ लौं जीव ते हैं सकल अपने गोत ।
शाप तें या मनुज कों कहूँ होय जो उद्धार,
परै हलको सकल प्राणिन को अविद्या-भार,

जासु छाया है दिखावति त्रास सब को घोर,
जीवपीड़ा जासु क्रीड़ा निपट निठुर कठोर ।
होति कैसी बात, हा ! जो सकत कोउ बचाय !
अवसि है है कहूँ न कहूँ तो शरण और उपाय ।

रहे पीड़ित शीत सों तौ लौं मनुज भरपूर
कियो जौ लौं नाहिँ कोऊ कठिन चकमक चूर ;
और अरणी मथि निकासी अग्नि की चिनगारि
रही इनमें लुकी जो बहु आवरण पट डारि ।

रहे अस्फुट शब्द सों बिँबियात नर जग माहिँ
वर्ण के संकेत जौ लौं कोउ निकास्यो नाहिँ ।
रहे दूटत श्वान सम ते मास ऊपर जाय
नाहिँ रोप्यो बीज जौ लौं खेत कोउ बनाय ।

लही जो कछु वस्तु जग में है मनुज ने चाहि
मिली अपनी खोज, त्याग, प्रयत्न सों है वाहि ।
करै भारी त्याग कोऊ और खोजै जाय
तो कदाचित् त्राण को मिलि जाय कोउ उपाय ।

जो सुखी संपन्न होवै लहि सकल सुखसाज ;
जन्म जाको होय करिबे हेतु जग में राज ;
होय जीवन नाहिँ भारी जाहि काहु प्रकार ;
जो लहत आनंद ही सब भाँति या संसार ;

प्रेम के रसरंग में जो सनो तृप्तिविहीन ;
जो न होवै जराजर्जर, शिथिल, चितालीन ;
दुःख-आश्रित विभव जग के होयँ करत हुलास ;
एक सौं बढ़ि एक जाको सुलभ भोग विलास ;

होय मो सम जो, न जाको रहै कोऊ क्लेश ;
औ न अपनी रहै चिंता सोच को कछु लेश ;
सोच केवल जाहि परदुख देखि कै दिन राति ;
सोच केवल यहै 'मैं हूँ मनुज सबकी भाँति,'

होय जो ऐसो, तजन हित होय एतो जाहि ;
त्यागि सर्वस देय जो निज मनुजप्रेम निबाहि ;
खोज में पुनि सत्य के जो लगै आठो याम
और मुक्ति रहस्य खोजै होय सो जा ठाम—

नरक में वा स्वर्ग में चाहै छिपो जहँ होय,
चहै अंतस् में सबन के गुप्त होवै सोय—
दिब्य दृष्टि गढ़ाय जो सो देखिहै चहुँ ओर
अवसि टरिहै कबहुँ कतहूँ आवरण यह घोर,

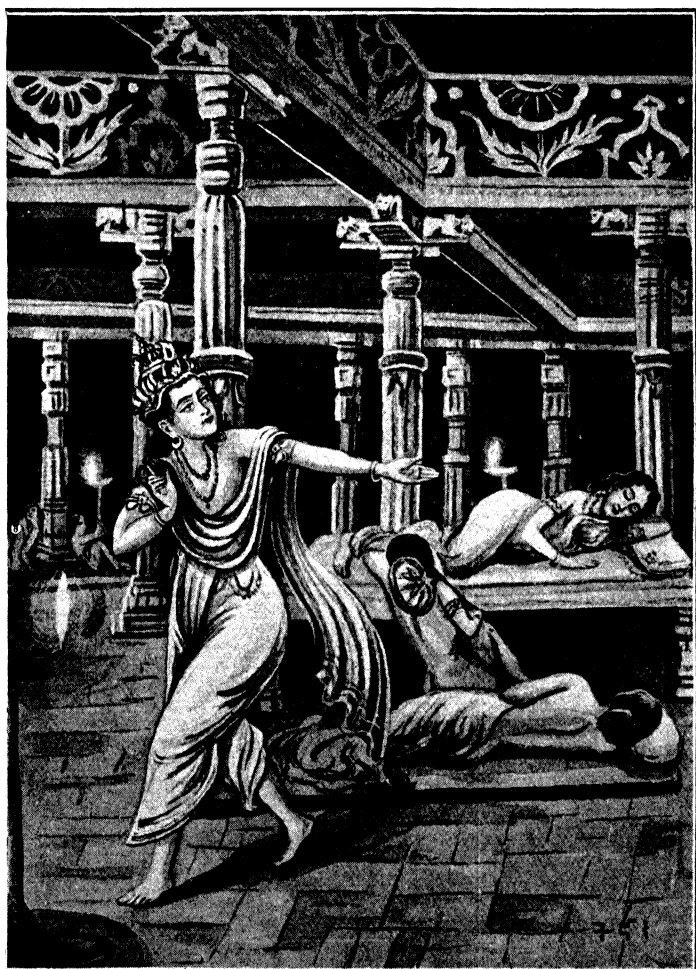
अवसि खुलिहै मार्ग कहूँ, जहँ थके पाँव पधारि ।
 पायहै निस्तार को सो कोउ द्वार निहारि ।
 जासु हित सब त्यागिहै सो अवसि मिलिहै ताहि
 और मृत्युंजय कदाचित् होयहै सो चाहि ।

करौँ मैं यह, त्यागिबे हित जाहि एतो राज ।
 हिये कसकति पीर सो जो सहत मनुजसमाज ।
 है जहाँ जो कछु हमारो—कोटिगुन हू और—
 करत हौँ उत्सर्ग जासो होय सुख सब ठौर ।

होहु साक्षी आज गगन के सारे तारे !
 और भूमि जो दबी भार सेँ आज पुकारे !
 त्यागत हैं मैं आज आपनो यह यौवन, धन,
 राजपाट, सुख भोग, बंधु, बांधव औ परिजन,
 सबसेँ बढि भुजपाश, प्रिये ! तव तजत मनोहर,
 तजिबो जाको या जग में है सब सेँ दुष्कर ।
 पै तेरो निस्तार जगत् के सँग बनि ऐहै,
 वाहू को जो गर्भ बीच तव कछु दिन रहै—
 है जो फल लहलहे प्रेम को प्रथम हमारे—
 पै देखन हित ताहि रहौँ तो धैर्य्य सिधारे ।
 हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन !
 कछुक दिवस सहि लेहु दुःख जो परिहै या छन,

जासों निर्मल ज्योति जगै सो अति उजियारी,
 लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नर नारी ।
 अब यह दृढ़ संकल्प; आज सब तजि मैं जैहौं ।
 जब लौं मिलिहै नाहिं तत्त्व सो, नहिं फिरि ऐहौं ।”

येँ कहि नयनन लाय लियो निज प्यारी को कर ।
 नेहभरी पुनि दीठि बिदा हित डारी मुख पर ।
 करि परिक्रमा तीन सेज की पाँव बढ़ाए,
 धकधकाति छाती को कर सेँ दोउ दबाए ।
 कह्यो “कबहुँ अब नाहिं सेज पै या पग धरिहैं ।
 छानत पथ की धूरि धरातल बीच बिचरिहैं ।”
 तीन बेर उठि चल्यो, किंतु सो फिरि फिरि आयो;
 ऐसो वाके रूप प्रेम सेँ रह्यो बँधायो !
 अंत सीस पट नाय, पलटि आगे पग डारी
 आयो जहँ सहचरी सकल सोवति सुकुमारी,
 पाय निशा मनु बँधी कमलिनी इत उत सोहति ।
 गंगा औ गौतमी अधिक सब सेँ मन मोहति ।
 पुनि तिनकी दिशि हेरि कह्यो “सहचरी हमारी !
 तुम सुखदायिनि परम, तजत तुमको दुख भारी ।
 पै जो तुमको तजैँ नाहिं तो अंत कहा है ?
 जरा, क्लेश अनिवार्य, मरण बिकराल महा है ।



देखौ, जैसे परी नींद में हौ या छन सब
 परिहौ याही भाँति मृत्यु गरजति ऐहै जब ।
 सूखि गयो जब कुसुम कहाँ फिर गंध रूप तब ?
 चुक्यो तेल जब, ज्योति दीप की गई कहाँ सब ?
 हे रजनी ! तुम और नींद सेों चापौ पलकन,
 अधरन राखौ मूँदि और तुम इनके या छन,
 जासेों नयनन नीर और मुख वचन दीनतर
 राखैं मोहिं न रोकि, जावैं मैं तजि अपनो घर ।
 जेतोई सुख मोद लह्यो मैं इनसेों भारी
 तेतोई हौं होत सोचि यह बात दुखारी—
 मैं, ये औ नर सकल भरत जड़ तरु सम जीवन,
 लहत सहत हैं जो वसंत औ शीत ताप तन ।
 कबहूँ पात भुरात, भरत, हैं लहलहात पुनि;
 कबहुँ कुठार प्रहार मूल पै होत परत सुनि ।
 नहिं जीवन या रूप बितैहौं या जग माहीं ।
 दिव्य जन्म मम, जाय व्यर्थ सो ऐसो नाहीँ ।
 विदा लेत हौं आज , अस्तु, हे सकल सुहृद जन !
 जौ लौं है सुखसार-पूर्ण मेरो यह जीवन
 है अर्पण के योग्य वस्तु सो, यातें अर्पत ।
 खोजन हित हौं जात मुक्ति औ गुप्त ज्योति सत् ।”

कढ़थो मंद पग धरत कुँवर वा निशि में रहि रहि,
 तारक रूपी नयन नेह सेँ रहे जासु चहि ।
 शीतल श्वाससमीर आय चूम्यो फहरत पट,
 जोह्यो नाहिँ प्रभात सुमन खोल्यो सौरभ चट ।
 हिमगिरि सेँ लै सिंधु ताई वसुधा लहरानी,
 नव आशा सेँ तासु हृदय उमग्यो कछु जानी ।
 मधुर दिव्य संगीत गगन में परथो सुनाई ।
 दमकि उठीँ सब दिशा, देवगण सेँ जो छाई ।
 गणन लिए निज संग, मढ़े रत्नन सेँ भारी
 चारो दिक्पति आय द्वार पै बारी बारी
 ताकत हैं कर जोरि कुँवर को मुख, जो ठाढ़ो
 सजल नयन नभ ओर किए, हित धरि हिय गाढ़ो

बाहर आयो कुँवर, पुकारयो “छंदक, छंदक !
 उठौ, हमारो अश्व अबै कसि लाओ कंथक ।”

फाटक ही पै रह्यो सारथी छंदक सोवत;
 धीरे सेँ उठि कह्यो कुँवर मुख जोवत जोवत—
 “कहा कहत हौ, नाथ, राति में या अँधियारी
 जैहौ तुम कित, कुँवर ! होत विस्मय मोहिँ भारी ।”

“बोलौ धीमे, लाओ मेरे चपल तुषारहि;
 घरी पहुँचि सो गई तजैँ या कारागारहि,

जहाँ रहत मन बँधो, तत्त्व ढिग पहुँचि न पावत ।
अब मैं खोजन जात लोक हित ताहि यथावत् ।”

कह्यो सारथी “हाय, कुँवर ! यह कहा करत अब ?
कहे वचन जो गणक कहा भूठे हैं सब ?
शुद्धोदनसुत करिहै नाना देशन शासन,
राजन को है महाराज बसिहै सिंहासन ।
कहा छाँड़ि धनधान्यपूर्ण धरती सो दैहै ?
तजि सब भिक्षापात्र कहा अपने कर लैहै ?
जाके ऐसो स्वर्ग सरिस रसधाम मनोहर
भटकत फिरिहै कहा अकेलो सूने पथ पर ?”

उत्तर दीनो कुँवर “इतै आयोँ याही हित,
सिंहासन हित नाहि, सखा ! यह लेहु धारि चित ।
चाहत हौँ मैं राज्य सकल राज्यन सोँ भारी ।
लाओ कंथक तुरत, होहुँ वाको अधिकारी ।”

बोल्यो छंदक “कृपानाथ ! हम कैसे रहिहैं ?
महाराज, तव पिता, शोक यह कैसे सहिहैं ?
पुनि जाके तुम जीवनधन वाको का हैहै ?
करिहौ कहा सहाय जबै जीवन नसि जैहै ?”

उत्तर दीनो कुँवर “सखा ! यह प्रेम न साँचो;
जो निज आनँद हेतु प्रेम निश्चय सो काँचो ।

पै इनसों मैं प्रेम करत निज आनँद सों बढ़ि—
 औ तिनहूँ के आनँद सों बढ़ि—यातेँ अब कढ़ि
 जात उधारन हेतु इन्हें औ प्राणिन को सब ।
 लाओ कंथक तुरत, बिलंब न नेकु करौ अब ।”

“जो आज्ञा” कहि गयो अश्वशाला में छंदक,
 तुरत निकासी बागडोर चाँदी की झकझक ।
 तंग पल्लानी कसि कंथक को लायो बाहर
 फाटक ढिग, जहँ कुँवर रह्यो ठाढ़ो वा अवसर ।
 देखि प्रभुहि निज अति प्रसन्न है हय हिह्नानो,
 निरखत ताकी ओर बढ़ावत मुँह नियरानो ।
 सोवत जे जे रहे गई यह ध्वनि तिन लौं, पर
 रखे देवगण मूँदि कान तिनके वा अवसर ।

थपथपाय कर कुँवर कंठ पै बाके फेरे,
 बोल्यो पुनि “अब धीर धरौ, हे कंथक मेरे !
 आज मोहिं लै चलौ जहाँ लौं बनै निरंतर,
 सत्य खोजिबे हेतु कढ़त हौं आज छाँड़ि घर ।
 कहाँ खोज को अंत होयहै, यह नहिं जानत;
 बिनु पाए नहिं अंत यहै निश्चय मन ठानत ।
 सो अब साहस करौ करारो, तुरग हठीले !
 खज्रधार जो बिछै पथ पग परैं न ढीले ।

थमै न तेरो वेग, रुकै ना गति कहूँ तेरी,
 खाई खंदक परै, चहै पत्थर की ढेरी ।
 जा छन बोलौ 'बढ़ौ' पवन हू पाछे पारौ,
 अनलतेज औ वायुवेग तुम या छन धारौ ।
 पहुँचाओ निज प्रभुहि, होयहौ तुमहू भागी
 महत्कार्य की महिमा के या जग हित लागी ।
 चलत आज मैं, गुनौ, नाहिं केवल मनुजन हित
 पै सब प्राणिन हेतु सहत दुख जो हम सम नित
 किंतु सकत कहि नाहिं, मरत निशि दिन यौं ही सब ।
 अस्तु, पराक्रम सहित प्रभुहि लै चलौ तुरत अब” ।

धीरे सौं पुनि उछरि पीठ पै वाके आयो,
 केसर पै कर फेरि कंठ वाको सहरायो ।
 बढ़यो अश्व अब, परीं टाप पथरन पै वाकी,
 बागडोर की कड़ी हिलीं चमकीं अति बाँकी ।
 पै 'टप टप' औ खनक नाहिं कोऊ सुनि पाई,
 आय देवगण दिए मार्ग में सुमन बिछाई ।
 जब तोरण के निकट भूमि पै चलि पग डारे
 माया के पट विविध यज्ञगण तहाँ पसारे ।
 या विधि आहत बिना कुँवर तोरण पै आए,
 पीतर के तिहरे कपाट जहँ रहे भिड़ाए ।

सौ मनुष्य जब लगैं खुलैं जो तब कहूँ जाई
 खुले आप तेँ आप सरकि, नहिँ परे सुनाई ।
 याही विधि खुलि परे बाहरी फाटक सारे
 ज्यों ही राजकुमार पावँ तिनके ढिग धारे ।
 रक्तकण जनु मरे परे ऐसे सब सोए,
 डारि ढाल तरवार दूर, तन की सुध खोए ।
 ऐसी बही बयार कुँवर के आगे ता छिन
 परे मोहनिद्रा में लीने श्वास जहाँ जिन ।

गयो गगनतट शुक्र, बह्यो जब प्रात-समीरन,
 लहरन लागी कछुक अनामा पाय भूकोरन,
 खींचि बाग चट कुँवर कूदि महि पै पग धारे,
 कंथक को चुमकारि, ठोंकि मृदु बचन उचारे ।
 छंदक सेाँ पुनि प्रेम सहित बोल्यो कुमारवर
 “जो कछु तुमने कियो आज वाको फल सुंदर
 पैहौ तुम औ पैहैं जग के सब नारी नर ।
 धन्य भए तुम आज जगत में, हे सारथिवर !
 देखि तिहारो प्रेम प्रेम मेरो अति तुम पर,
 अब मेरे या प्यारे अश्वहिँ लै पलटौ घर ।
 लेहु सीस को मुकुट, राजपरिधान हमारे
 जिन्हैँ न कोउ अब मोहिँ देखिहै तन पै धारे ।

रत्नजटित कटिबंध सहित यह खड्ग लेहु मम
 औ ये लाँबी लटैं काटि फेंकत जिनको हम ।
 दै यह सब तुम महाराज सेाँ कहियो जाई
 'मेरी सुधि अब राखैं तौ लौँ सकल भुलाई
 जौ लौँ आऊँ नाहिँ राज सेाँ बढ़ि लहि संपति,
 यत्न योगबल, विजय पाय, लहि बोध विमल अति ।
 यदि पाऊँ यह विजय होय बसुधा मेरी सब
 हित नाते, उपकार निहोरे; यहै चहत अब ।
 गति मनुष्य की होनी है मनुष्य के हाथन ।
 पच्यो न जैसो कोउ होय पचिहौँ दै तन मन ।
 जग के मंगल हेतु होत हौँ जग तेँ न्यारे,
 पैहौँ कोऊ युक्ति मुक्ति की यह चित धारे' ।”

पंचम सर्ग



प्रव्रज्या

जहँ राजगृह है राजधानी लसति धिरि बन सों घने
तहँ पाँच पर्वत परत पावन पास पास सुहावने—
अति सघन ताल-तमाल-मंडित एक तो 'वैभार' है;
दूजो 'विपुलगिरि', बहति जा तर पातरी सरिधार है;

पुनि सघन छाया को 'तपोवन' जहँ सरोवर हैं भरे,
प्रतिबिंब श्याम शिलान के दरसात हैं जिनमें परे;
ऊपर चटानन सों शिलाजतु रसत जहाँ पसीजि कै,
नीचे सलिल को परसि रहि रहि डार भूमति भीजि कै;
चलि अग्निदिशि की ओर सुंदर 'शैलगिरि' मन को हरै,
उठि 'गृध्रकूट' सुश्रृंग जाको दूर ही सों लखि परै;
प्राची दिशा की ओर सोहत 'रत्नगिरि' निखरो खरो,
जो विटप वीरुध सों हरो, बहु रूप रत्नन सों भरो ।

पथ विकट पथरीलो परै जो फेर को आओ धरे,
पग धरत बाढ़न में कुसुम के, आम जामुन के तरे,

(१०१)

पै बचत भाड़िन सेँ कटीली बेर की औ बाँस की
औ चढ़त टीलन पै, कढ़त पुनि भूमि पै सम पास की ।

नव कलित काननकुसुम वह जो अचल अंचल ढार है,
चलि देखिए वटकुंज भीतर जो गुफा को द्वार है ।
या सरिस पावन और थल नहिँ सकल भूतल पाइए;
करि विमल मन सब भाँति आदर सहित सीस नवाइए ।

या ठौर श्रीभगवान बसि काटत कराल निदाघ को,
जलधारमय घनघोर पावस, कठिन जाड़ो माघ को ।
सब लोक हित धरि मलिन वसन कषाय कोमल गात पै
माँगे मिलति जो भीख पलटि पसारि पावत पात पै ।

तृण डासि सोवत रैन में घर बार स्वजन बिहाय कै ।
हुहुँआत चहुँ दिशि स्यार, तड़पत बाघ बनहिँ कँपाय कै ।
या भाँति जगदाराध्य बितवत ठौर या दिन रात हैं ।
सुखभोग को सुकुमार तन तप सेँ तपावत जात हैँ ।

व्रत नियम औ उपवास नाना करत, धारत ध्यान हैँ;
लावत अखंड समाधि आसन मारि मूर्ति समान हैँ ।
चढ़ि जानु ऊपर कूदि कबहूँ धाय जाति गिलाय हैं ।
कन चुनत ढीठ कपोत कर ढिग कबहुँ कंठ हिलाय हैं ।

खरी दुपहरी में बैठत प्रभु ध्यान लगाए ।
 सन सन करती धरा, धूप धधकति दव लाए ।
 गन गन नाचत परत सकल बनखंड लखाई,
 पै प्रभु जानत नाहिँ जात कित दिवस बिहाई ।
 ढरत दीप्त अंगारबिंब सम गिरितट दिनकर;
 पसरति आभा अरुण खेत औ खरियानन पर ।
 जुगजुगात पुनि जहँ तहँ निकसत नभ में तारे ।
 मिलि कै मंगलवाद्य उठत बजि पुर के सारे ।
 छाय जाति पुनि निशा, जीव जग के सब सोवत ।
 केवल कौशिक रटत कहूँ, कहूँ जंबुक रोवत ।
 पै प्रभु ध्याननिमग्न रहत हैँ आसन धारे,
 या जीवन को तत्त्व कहा सोचत मन मारे ।
 आधीराति निखंड होति, जग थिरता धारत ।
 केवल हिंसक पशु कढ़ि कै कहूँ फिरत पुकारत—
 ज्यों मन के अज्ञानविपिन भय द्वेष पुकारत,
 काम क्रोध मद लोभ घोर विचरत, नहिँ हारत ।
 सोवत पछिले पहर घरी तेती ही प्रभुवर
 अष्टमांश पथ जेती में कढ़ि जात निशाकर ।
 पौ फटिबे के प्रथम परत उठि प्रभु पुनि प्रति दिन,
 फटिक-शिला पै आय रहत ठाढ़े नित बहु छिन ।
 सोवति वसुधा को नयनन भरि नीर निहारत,
 सब जीवन की दशा देखि, गुनि हिय में हारत ।

पुलकित पुनि लखि परत लहलहे खेत मनोहर
 चुंबन सों अनुरागवती ऊषा के सुंदर ।
 प्राची आशा कहन लगति दिनराज अवाई;
 पहले केवल धुंध सरीखो परत लखाई ।
 किंतु पुकारै अरुणचूड़ जौ लौं पुर भीतर
 आभा निखरति शुभ्र रेख सी शैलशीर्ष पर ।
 लागति परसन होति शुभ्रतर सो अब क्रम क्रम
 देखत देखत होति स्वर्णपीताम्भ धार सम ।
 अरुण, नील औ पीत होत घनखंड मनोरम,
 काहू पै चढ़ि जाति सुनहरी गोट चमाचम ।
 सब जग जीवनमूल प्रतापी परम प्रभाकर
 दिनपति प्रगटत धारि ज्योतिपरिधान मनोहर ।

ऋषि समान करि नित्यक्रिया सवितहि सिर नावत;
 लै पुनि भिक्षापात्र पायँ पुर ओर बढ़ावत ।
 बीथी बीथी फिरत यती को बानो धारे,
 जो कछु जो दै देत लेत सो हाथ पसारे ।
 भिक्षा सों भरि जात पात्र सो जहाँ पसारत,
 'महाराज ! यह लेहु' किते रहि जात पुकारत ।
 देखि दिव्य सो रूप सौम्य, लोचनसुखकारी
 जहँ के तहँ रहि जात ठगे से पुरनरनारी ।

दूर दूर सौं पुत्रवती बहु धावति आवैं,
प्रभु के पायँन पारि सिसुन, बहु बार मनावैं ।
लेति चरणरज कोउ, कोउ पट सीस लगावति ।
अति मीठे पकवान और जल कोऊ लावति ।

कबहुँ कबहुँ प्रभु जात रहत अति मधुर मंद गति,
दिव्य दया सौं दीप्त, ध्यान में भए लीन अति ।
रूप अनूप लुभाय लाय टक रहैं कुमारी,
प्रेम भक्ति सौं भरी दीठि निज तिन पै डारी ।
मानो रूप समाय रह्यो जो नयनन में अति
सम्मुख लखि रहि जाति चाह सौं ताको चितवति ।
पै पकरे निज पंथ जात प्रभु सीस नवाए,
धारे वसन कषाय, भीख हित कर फैलाए ।
मृदु वचनन सौं करि सबको परितोष यथावत्
फिरत गिरिव्रज ओर, आय पुनि ध्यान लगावत ।
जेते जोगी जती बसत तिनके ढिग बहु छिन
बैठि सुनत बहु ज्ञान, सत्यपथ पूछत प्रति दिन ।

शांत कुंजन बसत तापस रत्नगिरि की ओर हैं,
गनत हैं या तनहिँ जो चैतन्य को रिपु घोर हैं ।
कहत इंद्रिय प्रबल पशु हैं, लाय वश में मारिए,
क्लेश दै बहु भाँति इनको दमन यों करि डारिए

क्लेश की सब वेदना मरि जाय आपहि आपही,
ताप सों तन नहिं तचै औ शीत सों कांपै नहीं ।
करत नाना साधना योगी यती मन लाय कै,
त्यागि जनपदवास निर्जन बीच धाम बनाय कै ।

कतहुँ कोऊ ऊर्ध्वबाहु दिनांत लौं ठाढ़ रहैं,
जोड़ ते' भुजदंड दोऊ मोड़ ना कबहूँ लहैं,
सूखि कै अति छीन औ गतिहीन हूँ तन में नढ़े
उकठि मानो रूख ते' द्वै खूथ ऊपर को कढ़े ।

कीलि राखे करन को कोउ काठ मारि कठोर हैं;
भालु के से बढ़ि रहे नख आँगुरिन के छोर हैं ।
लोह-कील बिछाय कोऊ बसत आसन मारि कै ।
कोउ ऐंठत अंग, कोउ पंचाग्नि तापत बारि कै ।

पाथरन सों मारि कोऊ जारि तन जर्जर करे,
राख माटी पोति तन पै चीथरे चीकट धरे ।
जपत कोउ शिवनाम बैठि मसान पै दिनरात हैं,
स्यार जहँ शत्रु नोचि भागत, गीध बहु मँड़रात हैं ।

कोउ करि मुख भानु दिशि पग एक पै ठाढ़ो रहै,
नाहिँ अथवत देव जौ लौं अन्नजल नहिँ कछु लहै ।
सहत साँसति सतत यों, सब मांस गलि तन की गई,
हाड़ सों सटि चाम सूखो, ताँत सी नस नस भई ।

करत अनशन व्रत कोऊ, कोउ कृच्छ्र चांद्रायण करै ।
धूरि में कोउ जाय लोटत, राख कोउ मुँह में भरै ।
करत रसना सुन्न कोऊ जड़ी बूटी चाबि हैं;
स्वाद की सब वासना या भाँति पावत दाबि हैं ।

काटि कर पग, छाँटि डारी जीभ कोऊ आपनी;
कोँचि आँखिन, नोचि कानन, कनक सी काया हनी,
विकल अंगविहीन, गतिहत, मूक, बहरो, आँधरो,
जियत मृतक समान ह्वै पलपिंड सो भू पै परा ।

कायदंड कठोर जो सहि लेत हैं सारे यहीं
कठिन यम की यातना रहि जाय पुनि तिनको नहीं ।
क्लेश सारे जीति सुंदर देवगति ते लहत हैं
वेद शास्त्र पुराण आगम बात ऐसी कहत हैं ।

जाय बचन भगवान एक सेँ यों कहे
“अहो ! क्लेश यह घोर आप तो सहि रहे ।
बीते मास अनेक मोहिँ या ठौर हैं;
देखे आप समान तपत बहु और हैं ।

है या जीवन माहिँ दुःख थोरो कहा
औरहु बिढ़वत आप क्लेश जो यह महा ?”
बोल्यो तापस “और कहा हम जानिहैं ?
ग्रंथन में जो लिखो चलत सो मानिहैं ।

जो कोउ तनहिं तपाय क्लेश ही जानिहै
 और मरण विश्रामरूप करि मानिहै
 क्लेशभोग सों पापलेश नसि जायहै,
 निखरि जीव है शुद्ध, लोक शुभ पायहै,

निकसि घोर या तापपूर्ण भवकूप तें
 लोकन बीच बिचरिहै दिव्य स्वरूप तें,
 भाँति भाँति सुख भोग भोगिहै बसि तहाँ
 जिनको ह्याँ अनुमान सकत कोउ करि कहाँ ?

कह्यो श्रीसिद्धार्थ “वह जो शुभ्र मेघ दिखात,
 इंद्र-आसन को मनो पट स्वर्णमय दरसात,
 बातलुब्ध पयोधि सों सो उठो नभ में जाय,
 अश्रुबिंदु समान खसि खसि अवसि गिरिहै आय;

कीच सों सनि, धुनत सिर, बहि नदी नारन माहिँ
 जाय परिहै जलधि में पुनि अवसि संशय नाहिँ ।
 कहा याही रूप को नहिँ स्वर्ग को सब भोग,
 जाहि अर्जन करत मुनिजन साधि तप औ योग ?

चढ़त जो सो गिरत, छीजत लेत जाहि बिसाहि,
 यह अटल व्यवहार जग में विदित है नहिँ काहि ?
 रक्त तन को गारि यों क्रय करत हौ सुरधाम,
 पूजिहै जब भोग सोइ भवचक्र पुनि अविराम ।”

“कौन जानै होय ऐसो, सकत कहि किहि भाँति ?
निशा पै पुनि दिवस आवत, श्रम अनंतर शांति ।
रक्त पल की देह पै या हमैं ममता नाहिं
रहति बाँधे जीव को जो विषयबंधन माहिं ।

जीव के हित दाँव पै हम धरत देवन पास
क्षणिक जीवनक्लेश यह चिरकाल सुख की आस ।”
कुँवर बोले “सोउ सुख की अवधि है पै, भ्रात !
वर्ष कोटिन लौं रहै, पै अंत है ही जात ।

अंत जो नहिं तो कहा हम लेयें ऐसो मानि
है कहूँ या रूप जीवन जासु होति न ग्लानि,
भिन्न जो सब भाँति जाको होत नहिं परिणाम ?
है कहा, ये देव सारे नित्य निज निज धाम ?”

कह्यो योगिन “देव हू नहिं नित्य या जग माहिं
नित्य केवल ब्रह्म है, हम और जानत नाहिं ।”

कह्यो बुद्ध भगवान् “सुनो, हे मेरे भाई !
ज्ञानवान्, दृढ़चित्त परत हौ हमैं लखाई ।
क्यों तुम अपनी हाय दावँ पै देत लगाई
ऐसे सुख के हेतु स्वप्न सम जो नसि जाई ?
आत्मा को प्रिय मानि देह यों अप्रिय कीनी,
ताड़न करि बहु ताकी तुम यह गति करि दीनी

धारन हू में है समर्थ वा जीवहि नाही[॥]
 खोजत जो निज पंथ, रह्यो अड़ि बीचहि माही[॥] ।
 ज्यों कोउ तीखो तुरग बढ़त जो आपहि पथ पर
 खाय खाय कै एड़ भयो बीचहि[॥] मे[॥] जर्जर ।
 ढाहत हौ क्यों भवन जीव को यह बरिआई[॥],
 पूर्व कर्म अनुसार बसे हम जामे[॥] आई,
 जाके द्वारन सों प्रकाश कछु हम है[॥] पावत,
 सूझत है यह हमें दीठि निज जबै उठावत
 सुप्रभात कब होय घोर तम पुंज नसाई,
 सुंदर, सूधो, सुगम मार्ग कित तें है जाई ।”

योगी बोले हारि “पंथ है यहै हमारो;
 चलिहै[॥] यापै अंत ताई, सहिहै[॥] दुख सारो ।
 जानत यातें सुगम मार्ग यदि होहु, बताओ
 नातौ बस, आनंद रहौ , इत ध्यान न लाओ ।”

बढ़्यो आगे खिन्नमन सो देखि कै यह बात,
 मृत्युभय नर करत ऐसो भय करत भय खात ।
 प्रीति जीवन सों करत यों प्रीति करत सकात;
 करत व्याकुल ताहि, तप की सहत साँसति गात ।
 करन चहत प्रसन्न या विधि देवगणहि रिभाय,
 सकत देखि प्रसन्न मानव सृष्टि जो नहिं, हाय !

चहत नरकहि न्यून करिबो नरक आप बनाय ।
माति तप उन्माद में ये रचत मुक्ति उपाय !

बोलि उठ्यो सिद्धार्थ “अहो ! वनकुसुम मनोहर !
जोहत कोमल खिले मुखन जो उदित प्रभाकर,
ज्योति पाय हरषाय श्वाससौरभ संचारत,
रजत, स्वर्ण, अरुणाभ नवल परिधान सँवारत,
तुम में तें कोउ जीवन नहिं माटी करि डारत,
नहिं अपनो हठि रूप मनोहर कोउ बिगारत ।
एहो, ताल ! विशाल भाल जो रह्यो उठाई,
चाहत भेदन गगन, पियत सो पवन अघाई,
शीतल नीरधि नील अंक जो आवति परसति
मंजु मलयगिरि गंधभार भरि मंद मंद गति ।
जानत ऐसो भेद कौन जासों, हे प्रिय द्रुम !
अंकुर तें फलकाल ताई हौ रहत तुष्ट तुम ?
पंख सरीखे पातन सेाँ मर्मर ध्वनि काढ़त,
अट्टहास सेाँ हँसत हँसत तुम जग में बाढ़त ।
तरुडारन पै बिहरनहारे, हे बिहंगगन !
—शुक, सारिका, कपोत, शिखी, पिक, कोकिल, खंजन—
तिरस्कार निज जीवन को नहिं तुमहुँ करत हौ,
अधिक सुखन की आस मारि तन मन न मरत हौ ।

पै प्राणिन में श्रेष्ठ मनुज जो बधत तुम्हें गहि,
 ज्ञानी बोलत रक्तपात बिच पोसी मति लहि ।
 सोइ बुद्धि लै हैं प्रवृत्त ये नर बहुतेरे
 आत्मक्लेश दैबे में नाना भाँतिन केरे” ।

कहत यों प्रभु शैलतट-पथ धरे गे कछु दूरि ।
 खुरन के आघात सों तहँ उठति देखी धूरि ।
 झुंड भारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय;
 ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय ।

जितै झलकत नीर, गूलर लसी लटकति डार
 लपकि ताकी ओर धावै छाँड़ि पथ द्वै चार,
 जिन्हें बहकत लखि गड़रियो उठत है चिल्लाय
 लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय ।

लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन संग,
 एक जिनमें है रह्यो है चोट सों अति पंग ।
 छूटि पाछे जात, रहि रहि चलत है लँगरात;
 थके नान्हें पाँव सों है रक्त बहत चुचात ।

ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर;
 बढ़त आगे बनत है नहि देखि शिशु की पीर ।
 देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहि उठाय;
 लादि लीनों कंध पै निज करन सों सहराय

कहत यों “हे ऊर्णदायिनि जननि ! जनि घबराय,
देत हौं पहुँचाय याको जहाँ लौं तू जाय ।
पशुहु की इक पीर हरिबो गुनत हौं मैं आज
योग औ तपसाधना सेँ अधिक शुभ को काज ।”

बढ़ि चरावनहार दिशि प्रभु बहुरि बूझी बात
“जात ऐसी धूप में कित लिए इनको, भ्रात ?”
दियो उत्तर सबन “आज्ञा मिली है यह आज,
मेष अज सौ बीछि कै लै चलौ बलि के काज ।

देवपूजन राति करिहैं महाराजधिराज ।
होत हैं या हेतु नृप के भवन नाना साज ।”
“चलत हमहूँ” बोलि यों प्रभु चले धीरज लाय
धूप में वा संग तिनके पशुहि गोद उठाय ।

स्वेदकणिका धूरि छाए भाल पै दरसाति;
लगी पाछे जाति रहि रहि भेड़ सो मिमियाति ।

किसा गोतमी

चलत यों सब जाय पहुँचे एक सरिता-तीर ।
मिली तरुणी एक खंजननयन धारे नीर ।

लगी प्रभु सेँ कहन येँ कर जोरि करत प्रणाम
“तुम्हें चीन्हति हैं, प्रभो ! तुम सोइ करुणाधाम

जो धरायो धीर मोकोँ वा कुटी में जाय
जहाँ इकली शिशु लिए मैं रही दिनन बिताय ।
रह्यो फूलन बीच घूमत एक दिन सो बाल;
रह्यो ढिग नहिं कोउ; लिपट्यो आय कर सेँ व्याल ।

लग्यो खेलन ताहि लै सो मारि बहु किलकार;
काढ़ि दुहरी जीभ विषधर उठ्यो दै फुफकार ।
हाय ! पीरो परो बाको अंग सब छन माहिँ;
गयो हिलिबो डोलिबो, थन धर्यो मुख में नाहिँ ।

कहन लाग्यो कोउ याको विष गयो अब छाय;
कोउ बोल्यो ‘सकत याको नाहिँ कोउ बचाय ।’
किंतु कैसे बनै खोवत प्राणधन निज, हाय !
झाड़ फूँक कराय, देवन थकी सकल मनाय ।

किए जतन अनेक खोलै आँखि सो शिशु फेरि,
मुदित ‘माय’ पुकारि बोलै कछुक मो तन हेरि ।
गुन्यो मैं नहिं सर्प को है दश अधिक कराल;
नाहिँ अप्रिय काहु को है नेकु मेरो लाल ।

ठानि यासों बैर काहे साँप लैहै प्रान ?
खेल में क्यों याहि डसिहै, जानि बाल अजान ?
कह्यो कोउ कोउ 'बसत गिरि पै सिद्ध एक महान;
जाय ता ढिग देखु तौ करि सकैं कछु कल्यान ।'

सुनत धाई पास, प्रभु ! तब विकल कंपितगात;
दिव्य दर्शन पाय परस्यो पुलकि पद जलजात ।
बिलखि शिशु तहँ डारि, दीनो तासु मुखपट टारि,
'करिय कछु उपचार' प्रभु ! यों विनय कीनी हारि ।

करी मोपै दया, भगवन् ! नाहिं टार्यो मोहिं
परसि शिशु भरि नीर नयनन कह्यो मो तन जोहि

'हे भगिनि ! जानत जतन जो मैं देत तोहि सुनाय,
उपचार तेरो और तेरे शिशुहु को हूँ जाय,
पै सकै जो तू लाय जो मैं देत तोहि बताय,
है कहत जो कछु वैद्य, रोगी देत ताहि जुटाय ।

माँगि घर सों काहु के दे लाल सरसों लाय;
ध्यान रखि या बात को तू जहाँ माँगन जाय
लेय वा घर सों न तू जहँ मरो कोऊ होय—
पिता, माता, बहिन, बालक, पुरुष अथवा जोय ।

देय सरसों लाय ऐसी, उठै तो तब बाल,
 कही मोसों रही प्रभुवर बात यह वा काल ।'
 कह्यो मृदु मुसुकाय प्रभु "हे किसान गोतमि ! तोहि
 कही मैंने रही ऐसी बात, सुधि है मोहि ।

मिली सरसों तोहि ऐसी कतहुँ देय बताय ।"
 बिलखि बोली नारि सो भगवान के गहि पाय

"मरे शिशुहि गर बाँधि फिरी मैं सकल ग्राम बन,
 द्वार द्वार पै माँगी सरसों धीर धारि मन ।
 माँगति जासों जाय देत सो मोहिँ बुलाई
 दीनन पै तो दया दीन जन की चलि आई ।
 पै जब पूछति 'मरथो कबहुँ कोऊ तुम्हरे घर—
 मातु, पिता, पति, पुत्र, बंधु, भगिनी वा देवर ?'
 कहत चकित हूँ 'बहिन ! कहा यह कहति अजानी,
 मरे न जाने किते, जियत तो थोरे प्रानी ।'
 सरसों तिनकी फेरि जाय जाँचति पुनि औरन;
 पै सब याही रूप कहत कछु उदासीन मन
 'सरसों तो है किन्तु मरो है मेरो भाई ।'
 'सरसों है पै पति दीनो चलि मोहिँ बिहाई ।'
 'सरसों है पै बोयो जाने सो है नाहीं,
 काटन को जब समय, गयो चलि सुरपुर माहीं ।'

मिल्यो न ऐसो मोहिँ कोउ घर, हे प्रभु ज्ञानी !
 कबहुँ न होबै मरो जहाँ पै कोऊ प्रानी ।
 नदी किनारे नरकट के वा भापस माहीं
 दीनो मैं शिशु डारि हँसत बोलत जो नाहीं ।
 तब पाँयन ढिग फेरि, प्रभो ! बिनवति हैं आई,
 सरसों मिलिहै कहाँ देहु, प्रभु, यहौ बताई ।”

बोले प्रभु “जो मिलत न सो तू हेरति हारी,
 पै हेरत में लही एक कटु औषध भारी ।
 कालि लख्यो निज शिशुहि महानिद्रा में सोवत,
 देखति है तू आज सबै सोई दुख रोवत ।
 सब पै जो दुख परत लगत हरुओ जग माहीं,
 बहुतन में बँटि लगत एक को गरुओ नाहीं ।
 थमै तिहारी आँसु देहुँ तो रक्तहिँ गारी,
 पै नहिँ जानत मर्म मृत्यु को कोउ नरनारी,
 प्रेममाधुरी बीच देति जो कटु विष घोरी,
 जो नित बलि के हेतु नरन लै जात बटोरी
 फूलन सोँ लहलही वाटिका बीच निकारत—
 मूक पशुन इन लिए जात ज्यों, लखौ, हँकारत ।
 खोजत हैं मैं सोइ रहस्य, हे भगिनी मेरी !
 लै अपनो शिशु जाय क्रिया करु तू वा केरी ।”

यज्ञबलि-दर्शन

पशुपालन संग प्रवेश कियो पुर में प्रभु देखत देखत जाय,
ढरि कंचन सी किरनैँ रवि की जहँ सोन को नीर रहीं भलकाय,
सब बीथिन में पुर की परिकैँ परछाईँ रहीं अति दीरघ नाय,
पुरद्वार के पार जहाँ प्रतिहार खड़े बहु दीरघ दंड उठाय ।

पशु लै प्रभु को तिन आवत देखि दयो पथ सादर मौनहिं धारि ।
सब हाट की बाट में बैठनहार लई बगरी निज वस्तुन टारि ।
भगरौ निज रोकि कैँ गाहक औ बनियाहु रहे मृदु रूप निहारि ।
कर बीच हथौड़ो उठाय लुहार गयो रहि नाहिँ सक्यो घन मारि ।

तनिबो तजि ताकि जुलाह रहे, बहु लेखक लेखनि हाथ उठाय ।
गनिबो निज पैसन को चकराय गयो सुधि खोय सराफ भुलाय ।
नहिँ अन्न की राशि पै काहुकी आँखि, रहे सुख सेँ मिलि साँड़ चबाय ।
मटकी पर धार चली पय की बहि, ग्वाल रहे प्रभु पै टक लाय ।

पुरनारि जुरी बहु बूझति हैं “बलि हेतु लिए पशु को यह जात ?
शुचि शांतिभरी मृदुता मुख पै, अति कोमल मंजु मनोहर गात ।
कहु जाति कहा इनकी ? इन पाए कहाँ अति सुंदर नैन लजात ?
तन धारि अनंग किधौ मघवा यह जात चलो गति मंद लखात ?”

कोउ भाखत “सिद्ध सोई यह जो तिन योगिन संग बसै गिरि पार” ।
प्रभु जात चले निज पंथ गहे मन माहिँ बिचारत याहि प्रकार—

“भटकैं नर भेड़ समान, अहो ! इनको नहिं कोउ चरावनहार;
सब जात चले उत अंध भए बलि हेतु खिंची जित है जमधार ।”

आय नृपति सों कही एक प्रभु को आवत मुनि
“आवत हैं तव यज्ञ माहिं, प्रभु ! एक महा मुनि ।”

यज्ञशाला में बसत नृप; बँधे बंदनवार;
शुभ्र पट धरि करत ब्राह्मण मंत्र को उच्चार ।
देत आहुति जात हैं मिलि सकल बारंबार ।
मध्यवेदी बीच धधकति अग्नि धूआँधार ।

गंधकाठन सों उठति लौ जासु जीभ लफाय;
खाति बल, धुधुआति रहि रहि धार घृत की पाय;
भखति बलि सह सोमरस जो पाय इंद्र अघात;
अंश देवन को सकल तिन पास पहुँचत जात ।

बधे बलिपशु के रुधिर की लाल गाढ़ी धार
बिछी बालू बीच थमि थमि बहति वेदी पार ।
लखौ अज इक बड़े सींगन को खड़ो मिमियात,
मूँज सों गर कसो जाको यूप में दरसात ।

तानि ताके कंठ पै करवाल अति खरधार
एक ऋत्विज् लग्यो बोलन मंत्र विधि अनुसार—

“ग्रहण याको करौ तुम, हे देवगण, सब आय
यज्ञबलि शुभ बिबसार नरेश को हरषाय ।

हेहु आज प्रसन्न लखि जो रक्त रहे बहाय ।
जरत पल तें वपा की यह गंध लेहु अघाय ।
भूप को मम अशुभ याके सीस पै सब जाय ।
हनत हौं अब याहि, लेवैं भाग सुरगण आय ।”

आय ठाढ़े भए नृप ढिग बुद्ध प्रभु तत्काल
बरजि बोले “याहि मारन देहु ना, नरपाल !”
जाय बलिपशु पास बंधन तुरत दीनो खोलि;
तेज सौं दाबि रहे सब, नहिं सक्यो कोऊ बोलि ।

कहन पुनि भगवान लागे “गुनौ, नृप ! मन माहिं,
लै सकत हैं प्राण सब, पै दै सकत कोउ नाहिं ।
जुद्ध कैसउ होय प्यारो होत सबको प्रान ।
नाहिं ताको तजन चाहत कोउ अपनी जान ।

है अमूल्य प्रसाद जीवन, यदि दया को भाव,
सबल निर्बल दोउ पै है विदित जासु प्रभाव ।
अबल हित करि देति कोमल जगत की गति घोर;
सबल को लै जाति है सो श्रेष्ठ पथ की ओर ।

चहत देवन सौँ दया नर होत निर्दय आप;
देव सम हूँ पशुन हित इन, देत इन को ताप ।
जगत में हैं जीव जेते सबै एकहि गोत,
श्रेष्ठ है सो जीव जाको ज्ञान ऐसो होत ।

रहत जो विश्वास पै, पय ऊन दै तृण खात,
दीन जीवन संग ऐसे करत हैं नर घात !
शास्त्र सारे कहत केते नर शरीर बिहाय
भोगि पशु खग योनि पुनि नरदेह पावत आय ।

अग्निकण सम जीव परि भवचक्र फेरो खात,
कबहुँ दमकत निखरि कै औ कबहुँ लपटि भँवात ।
यज्ञ में पशुहनन निश्चय पाप है, नरराय !
जीव की गति रोकिबो या भाँति है अन्याय ।

जीव शुद्ध न हूँ सकत है रक्त सौँ जग माहिँ ।
देवगण हू भले हैं यदि, तुष्ट हूँ हैं नाहिँ !
क्रूर हैं यदि, सकत कैसे तिन्हें हम बहराय
दीन गूँगे पशुन को इन मारि रक्त बहाय ?

करत नर जो पाप नाना भाँति कर्म कमाय
तासु फल तिल भर न सकिहै पशुन के सिर जाय ।
करत जो है सोइ भोगत और कोऊ नाहिँ ।
विश्व को लेखो भरत सब रहत जीवन माहिँ ;

होत जीवन माहिँ जैसे कर्म, वचन, विचार
गति भली वा बुरी पावत ताहि के अनुसार ।
नित्य है यह नियम अंतररहित औ अविराम ।
कहत भावी जाहि सो है कर्म को परिणाम ।”

सुनत दया सौँ भरी खरी बानी प्रभु केरी
रक्तर्गो कर ढाँपि रहे द्विज इकटक हेरी ।
सादर सहमि नृपाल खड़े कर जोरि अगारी ।
लगे कहन प्रभु फेरि सबन की ओर निहारी—
“धराधाम यह कैसो सुंदर होतो, भाई !
जो रहते सब जीव प्रेम में बँधि गर लाई;
एक एक धरि खात न जो करि जतन घनेरो;
होत निरामिख रक्तहीन भोजन सब केरो ।
अमृतोपम फल, कनक सरिस कन, साग सलोने
सब हित उपजत जो, देखौ, सब थल, सब कोने ।”
सुनि यह सारी बात सहमि सबही सिर नायो,
दया धर्म को भाव सबन पै ऐसो छायो
ऋत्विज् हू सब दर्ई अग्नि इत उत बगराई,
बलि को खाँड़ो दियो हाथ सों दूर बहाई ।
दूजे दिन नृप देश माहिँ डौँड़ी फिरवाई,
शिला पटल औ खंभन पै यह दियो खुदाई—

“महाराज हैं करत आज या विधि अनुशासन :—
 यज्ञन में बलि हेतु और करिबे हित भोजन
 होत रह्यो वध विविध पशुन को अब लौं घर घर,
 पै अब सों नहिँ रक्त बहावै कतहुँ कोउ नर ।
 जीव सबै को एक; ज्ञान हित जीवन सारो ।
 दयावान् पै दया होति निश्चय यह धारो ।”
 थल थल पै शुभ शिलालेख यह सोहत सुंदर ।
 वा दिन सों उत गंगातट के रम्य देश भर,
 जहाँ जहाँ प्रभु घूमि दया को मंत्र सुनायो,
 पशु, पंछी, नर बीच शांति-सुख पूरो छाये ।

प्रभु की ऐसी दया रही तिन सब पै भारी
 प्राणवायु जो खँचि रहे चल जीवन धारी,
 सुख दुख के जो एक सूत्र में बँधे बेचारे,
 जग में नाना जतन करत जो पचि पचि हारे ।
 जातक में है लिखी कथा यह एक पुरानी—
 पूर्व जन्म में रहे बुद्ध इक ब्राह्मण ज्ञानी ।
 बसत बीच दालिह ग्राम के मुंडशिला पर ।
 भारी सूखो एक बार परि गयो देश भर ।
 ढँपे न ढेले, खेत बीच ही धान गए मरि;
 घास, पात, तृण, लता गुल्म मुरझाय गए जरि ।

ाल तलैयन को सारो जल गयो सुखाई ।
 पशु पंछी जो बचे विकल हैं गए पराई ।
 सूखे नारे के तट पै प्रभु जाय एक दिन
 परी काँकरिन पै देखी इक भूखी बाधिन ।
 धँसे नयन हैं ज्योतिहीन, हाँफति मुँह बाई;
 दाढ़न सेाँ बढ़ि जोभ दूर कढ़ि बाहर आई ।
 पसुरिन सेाँ सटि रह्यो चर्म चित्रित, ज्यों छप्पर
 बाँसन बिच धँसि रहत होय वर्षा सेाँ जर्जर ।
 बिकल जुधा सेाँ शावक द्वै थन पै मुँह लाई
 खँचि खँचि रहे हारि, वूँद नहिँ मुख में जाई ।
 छटपटात निज शिशुन देखि जननी सिर नाई
 सरकि और तिन ओर नेह सेाँ चाटति जाई ।
 रही भूलि निज भूख नेह के आगे सारी !
 गर्जन नहिँ रहि गयो, बिलखि हुँकरत गर फारी ।
 देखि दशा यह तासु भूलि प्रभु अपनो तन मन
 करुणा की निज सहज बानि-वश लागे सोचन
 “कैसे बन की हत्यारिन की करौ सहाई ?
 केवल एक उपाय परत है मोहिं लखाई ।
 मांस बिना दिन डूबत ही ये तीनो मरिहैं;
 ऐसे मिलिहैं कौन दया जो इन पै करिहैं ।
 जिन्हें रक्त की प्यास, मांस की भूख सतावति
 तिनपै जग में दया नाहिँ काहू को आवति ।

याके सम्मुख डारि देहुँ जो मैं अपनो तन
 मोहिँ छाँड़ि नहिँ हानि और काहू की या छन ।
 अपनी हू तो हानि नाहिँ कछु मोहिँ दिखाती
 जीवन प्रति निज नेह निबाहौँ जो या भाँती ।
 यों कहिँ अपनो उत्तरीय उष्णीष बिहाई
 उतरि करारे सौँ बाधिन ढिग पहुँचे जाई ।
 बोले “ले यह, मातु ! मांस तेरे हित आयो ।”
 भूखी बाधिन भूपटि तिन्हें तहँ तुरत गिरायो ।
 कुटिल नखन सौँ तन बिदारि, मुँह दियो लगाई,
 बोरि रक्त में दाँत, मांस सब गई चबाई ।
 हिंसातप्त कराल श्वास वा पशु की जाई
 प्रभु के अंतिम प्रेम-उसासन माहिँ समाई ।

रक्षो प्रभु को सदा याही भाँति हृदय उदार ।
 बरजि पशुबलि बुद्ध कीनो दयाधर्म-प्रचार ।
 जानि प्रभु को राजकुल औ त्याग अमित अपार
 बिबसार नरेश कीनी विनय यों बहु बार—

“राजकुल पति, रहे ऐसे कठिन नियम निबाहि !
 धरत जो कर राजदंड न भीख सोहति ताहि ।
 रहौ मेरे पास चलि, नहिँ मोहिँ कोउ संतान ।
 जिऔँ जब लौँ तुम सिखाओ प्रजा को मम ज्ञान ।

करौ तुम मम भवन सुंदरि बधू सहित निवास ।”

कह्यो दृढ़ संकल्प निज सिद्धार्थ होय उदास—

“रही” मोको वस्तु ये सब सुलभ, नृपति उदार !

सत्य पथ की खोज में हैं तज्यो सब घर बार ।

खोज में हैं और रहिहैं ताहि की चित लाय,

नाहिं थमिहैं इंद्र हू को भवन जो मिलि जाय ।

लेन आवैं अप्सरा मोहिं रत्नमंडित द्वार

किंतु निज संकल्प ते ना टरौ काहु प्रकार ।

जात हैं मैं धर्मभवन उठायबे हित जोहि

गया के घन बनन में जहँ बोध ह्वै है मोहिं ।

ऋषिन को करि संग देख्यो छानि शास्त्र पुरान,

किए नाना भाँति के व्रत और क्लेश विधान,

सत्य की पै ज्योति मोकोँ मिली अब लौं नाहिं;

ज्योति ऐसी है अवसि, यह उठत है मन माहिं ।

लह्यौ जो मैं ताहि तो पुनि पलटि या थल आय

प्रेम को फल अवसि दैहैं तुम्हें, हे नरराय !”

तीन बार प्रदक्षिणा प्रभु की करी नरपाल;

बिदा दीनी फेरि सादर पाँव पै धरि भाल ।

चले प्रभु उरुविल्व दिशि संतोष ना कछु पाय;

परो पीरो वदन तप सौं, देह रही भुराय ।

पंचवर्गी भिन्न सुनि यह पास प्रभु के आय
बहुत चाहो रोकियो बहु भाँति यों समझाय—
“बात है सब लिखी क्यों नहि पढ़त शास्त्र उठाय ।
सुनौ, श्रुति के ज्ञान सों बढ़ि सकैं मुनिहुँ न जाय ।

ज्ञान भाखत जो हमारो ज्ञानकांड महान्
छुद्र मानुष पायहै बढ़ि कहाँ तासों ज्ञान ?
ब्रह्म निष्क्रिय, सर्वगत, सत् और चित्, आनंद,
अपरिणामी, निर्विकार, निरीह, अज, निर्द्वंद ।

कहत श्रुति यों, राग तजि औ कर्म को करि नाश,
अहंकार-बिमुक्त ह्वै, निरुपाधि स्वयंप्रकाश,
जीव बंधन काटि क्रमशः ब्रह्म में मिलि जात ।
ब्रह्मविद्या पढ़ौ तो तुम जानिहौ सब बात;

असत् तें सत् ओर कैसे जीव यह चलि जाय
लहत पुनि चिर शांति कैसे विषयद्वंद्व विहाय ।”
सुनी तिन की बात प्रभु चुपचाप सीस नवाय
भयो पै परितोष नहि, चट दिए पाँव बढ़ाय ।

षष्ठ सर्ग

तपश्चर्या

जहँ बोधि-ज्योति प्रकाश भइ सो थल विलोकन चाहिए
तो चलि 'सहस्राराम' सेँ वायव्य दिशि को जाइए ।
करि पार गंग कछार पावँ पहार पै धरिए वही
जासेँ निकसि नीरंजना की पातरी धारा बही ।

अब होत ताके तीर चकरे पात के महुअन तरे,
हिंगोट औ अंकोट की झाड़ीन को मारग धरे,
पटपरन में कढ़ि जाइए जहँ फल्गु फोरि नगावली
चपती चटानन बीच पहुँचति है गया की शुभथली ।

बलुए पहारन और टीलन सेँ जड़ो सुषमा भरो
उरुविल्व को ऊसर कटीलो दूर लौँ फैलो परो ।
लहरात ताके छोर पै बन परत एक लखाय है
अति लहलहे तृण सेँ रही तल भूमि जाकी छाया है ।

जुरि कतहुँ सोतन को विमल जल लसत धीर गभीर है;
जहँ अरुण, नील, सरोज ढिग बक सारसन की भीर है ।
कछु दूर पै दरसात ताड़न बीच छप्पर फूस के,
जहँ कृषक 'सेनग्राम' के सुखनीद सोवत हैं थके ।

तहँ विजन वन के बीच बसि प्रभु ध्यान धरि सोचत सदा
 प्रारब्ध की गति अटपटी औ मनुज की सब आपदा,
 परिणाम जीवन के जतन को, कर्म की बढ़ती लड़ी,
 आगम निगम सिद्धांत सब औ पशुन की पीड़ा बड़ी,

वा शून्य को सब भेद जहँ सों कढ़त सब दरसात हैं,
 पुनि भेद वा तम को जहाँ सब अंत में चलि जात हैं।
 या भाँति दोउ अव्यक्त बिच यह व्यक्त जीवन ढरत है
 ज्यों मेघ सों लै मेघ लौं नभ इंद्रधनु लखि परत है,

नीहार सों औ घाम सों जु रि जासु तन बनि जात है
 जो विविध रंग दिखाय कै पुनि शून्य बीच बिलात है,
 पुखराज, मरकत, नीलमणि, मानिक छटा छहराय कै,
 जो छीन छन छन होत अंत समात है कहूँ जाय कै।

येँ मास पै चलि मास जात लखात प्रभु वन में जमे,
 चिंतन करत सब तत्त्व को निज ध्यान में ऐसे रमे,
 सुधि रहति भोजन की न, उठि अपराह्न में देखैं तहीं
 रीतो परो है पात्र वामें एक हू कन है नहीं।

बिनि खात बनफल जाहि बलिमुख देत डार हिलाय है
 औ हरित शुक जो लाल ठोरन मारि देत गिराय है।
 द्युति मंद मुख की परि गई, सब अंग चिंता सों दहे,
 बत्तीस लक्षण मिटि गए जो बुद्ध के तन पै रहे।

(१२९)

भूरे भरत जो पात तहँ जहँ बुद्ध तप में चूर है,
ऋतुराज के ते लहलहेपन सों न एते दूर हैं
जेते भए प्रभु भिन्न हैं निज रूप सों वा पाछिले
निज राज के जब वे रहे युवराज यौवन सों खिले ।

घोर तप सों छीन हूँ प्रभु एक दिन मुरझाय
गिरे धरती पै मृतक से सकल चेत विहाय ।
जानि परति न साँस औ ना रक्त को संचार ।
परी पीरी देह, निश्चल परो राजकुमार ।

कढ़याँ वा मग सों गड़रियो एक वाही काल,
लख्यो सो सिद्धार्थ को तहँ परो विकल विहाल,
मुँदे दोऊ नयन, पीरा अधर पै दरसाति,
धूप सिर पै परि रही मध्याह्न की अति ताति ।

देखि यह सो हरी जामुनडार तहँ बहु लाय,
गाँछि तिनको छाया मुख पै छाँह कीनी आय ।
दूर सों मुख में दियो दुहि उष्ण दूध सकात—
शूद्र कैसे करै साहस छुवन को शुचि गात ?

तुरत जामुन डार पनपी नयो जीवन पाय,
उठीं कोमल दलन सों गुच्छि, फूल फल सों छाया;
मनो चिकने पाट को है तनो चित्र बितान,
रँग विरंगी भालरन सों सजो एक समान ।

करी बहु अजपाल पूजा देव गुनि कोउ ताहि ।
स्वस्थ है उठि कह्यो प्रभु “दे दूध लोटे माहि ।”
कह्यो सो कर जोरि “कैसे देहु कृपानिधान ?
शूद्र हैं मैं अधम, देखत आप है, भगवान !”

कह्यो जगदाराध्य “कैसी कहत हो यह बात ?
याचना औ दयानाते जीव सब हैं भ्रात ।
वर्णभेद न रक्त में है बहत एकहि रंग;
अश्रु में नहिँ जाति, खारो ढरत एकहि ढंग ।

नाहिँ जनमत कोउ दीने तिलक अपने भाल,
रहत काँधे पै जनेऊ नाहिँ जनमत काल ।
करत जो सत्कर्म साँचो सोइ द्विज जग माहिँ,
करत जो दुष्कर्म सो है वृषल, संशय नाहिँ ।

देहि भैया ! दूध मो को त्यागि भेद विचार;
सफल है हैं, अवसि तेरो होयहै उपकार ।”
सुनत प्रभु के वचन ऐसे तुरत सो अजपाल,
दियो लोटो टारि प्रभु पै, भयो परम निहाल ।

तपश्चर्या-त्याग

नूपुर बजाय देवदासी इंद्रमंदिर की
जाति रही वाही मग मोद के प्रवाह बहि ।
संग मे समाजी कोउ डारे गर ढोल,
जासु मे डरे पै मोरपंख मंडित मरोर लहि ।
धारे एक बाँसुरी सुरीली मृदु तान भरी,
बीन तीन तार को चलो है एक हाथ गहि ।
उतसव माहि काहू साज बाज साथ जात
अटपट बाट बीच ठमकत रहि रहि ।

गोरे गोरे पायँन सों कढ़ि रही मंद मंद
पायल औ घूँघरू की रसभरी झनकार ।
कर बीच कंकन औ कटि बीच किंकिनी हू
खनकि उठति संग पूरो करि बार बार ।
धारि जो सितार हाथ पास पास चलो जात
आँगुरी चलाय रह्यो भूमि झनकारि तार ।
तीर धरि तासु अलबेली मृदु तान छाँड़ि,
गाय उठी गीत यह अंगगति अनुसार—

रखौ तुम ठीक बीन को तार ।
ना ऊँचो, ना नीचो होवै जमै रंग या बार ।
गाय रिभाय करै अपने बस हम सिगरो संसार ।

बहुत कसे टुटि जात तार, लय उखरि जाति मझधार ।
ढीलो तार न बोल निकासत, रंग होत सब छार ।

बाँसुरी औ बीन पै या भाँति सुंदरि गाय
जाति वा वनखंड भीतर चूनरी फहराय;
मनौ पंछी कोउ चित्रित पंख को फरकाय
खोलि निज कल कंठ घाटिन बीच विचरत जाय ।

रह्यो सुंदरि को न कछु या बात को अनुमान
कान में वा सिद्ध के है परति ताकी तान
मार्ग में अश्वत्थ तर जो बसत धारे ध्यान ।
किंतु पलक उघारि बोले बुद्ध सुनि सो गान—

मूढ़ हू ते मूढ़ ते है सकत नर कछु जानि ।
सूक्ष्म जीवनतार को मै रह्यो अतिशय तानि,
समुझि यह संगीत की मृदु निकसिहै झनकार
गूँजि करिहै जो जगत् में मनुज को उद्धार ।

सत्य अब जब लखि परत भइ नयनज्योति मलीन,
अधिक बल जब चाहिए तब ह्वै रह्यो तन छीन ।
प्राप्त साधन जो मनुज को, रह्यो सोउ बहाय ।
जायहौ या भाँति मरि, कछु करि न सकिहौ, हाय !

सुजाता

बसत रह्यो तहँ एक नदीतट पै भूस्वामी
 धर्मवान्, धनधान्यपूर्ण, सुकृती औ नामी,
 ढोर सहस्रन मूँड़ जाहि, जो न्यायी नायक,
 आसपास के दीन दुखिन को परम सहायक ।
 'सेन' तासु कुलनाम, ग्राम हू 'सेन' हि बोलत
 बसि सुख सों जहँ सो भरि भरि नित मूठी खोलत ।
 रही सुजाता नारि तासु रुचि राखनहारी,
 रूपवती, गुणवती, सती, भोरी, सुकुमारी ।
 मति गति गौरवभरी, दया दुख लखि दरसावति ।
 सब सों मीठे बचन बोलि परितोष बढ़ावति ।
 आनन पै आनन्द, चाह चितवन में सोहति ।
 नारिन में सो रत्न, शील सों जनमन मोहति ।
 शांति सहित सुखधाम बीच बितवत दिन दोऊ;
 दुख यदि कोऊ रह्यो, यहै संतति नहिँ कोऊ ।
 करी सुजाता लक्ष्मी की पूजा बहु भाँती;
 नित्य सूर्य के मंदिर में सो उठि कै जाती ।
 करि प्रदक्षिणा बार बार निज विनय सुनावति,
 धूप, गंध दै फूल और नैवेद्य चढ़ावति ।
 एक बार बन बीच जाय कर जोरि मनायो—
 'हूँ है यदि, वनदेव ! कहूँ मेरो मनभायो

तो या तरुतर आय फेरि निज सीस नवैहैं,
कनक कटोरे माहिँ खीर अनमोल चढ़ैहैं ।”

सफल कामना भई, भयो इक बालक सुंदर ।
तीन मास को होत ताहि निकसी लै बाहर ।
चली मंद गति, भक्तिभरी, सामग्री साजे
निर्जन वन की ओर जहाँ वनदेव विराजे ।
एक हाथ सेँ थामे सारी के अंचल तर
बड़ी साध को प्यारो अपना शिशु सो सुंदर;
दूजो कर मुरि उठ्यो सीस लौ, रह्यो सँभारी
कनक-कटोरन सजी खीर जामें सो थारी ।

दासी राधा गई रही पहिले सेँ वा थल
वेदी भारि बहारि लीपि करिबे को निर्मल ।
दौरति आई लगी कहन “हे स्वामिनि मेरी !
प्रगट भए वनदेव लेन पूजा यह तेरी ।
साक्षात् तहँ आय विराजत आसन मारे,
ध्यान लाय, दोउ हाथ जानु के ऊपर धारे ।
दिव्य ज्योति दृग माहिँ, अलौकिक तेज भाल पर
भव्य भाव युत लसत सौम्य शुचि मूर्ति मनोहर ।
हे स्वामिनि ! कलिकाल माहिँ योँ सम्मुख आई
बड़े भाग्य सेँ देत देव प्रत्यक्ष दिखाई ।”

गुनि ताको बनदेव दूर सौं करि बहु फेरे,
 काँपति काँपति गई सुजाता ताके नेरे ।
 करति दंडवत भूमि चूमि बोली यह बानी—
 “हे बन के रखवार ! देव, अति शुभ-फल-दानी !
 दर्शन दै ज्यों दया करी दासी पै भारी,
 पत्र पुष्प करि ग्रहण करौ प्रभु ! मोहिँ सुखारी ।
 तव निमित्त बहु जतनन सौं यह खीर बनाई;
 दधि कपूर सम श्वेत आज प्रभु सम्मुख लाई ।”
 कनक कटोरे माहिँ खीर प्रभु ढिग सरकाई
 चंदन गंध चढ़ाय, फूलमाला पहिराई ।
 खान लगे भगवान बचन मुख पै नहिँ लाए;
 खड़ी सुजाता दूर भक्ति सौं सीस नवाए ।
 ऐसो गुण कछु रह्यो खीर में, खातहि वाके
 गई शक्ति प्रभु की बहुरी, वे सुख सौं छाके ।
 पूरो बल तन माहिँ गयो पुनि ऐसो आई
 व्रत औ तप के दिवस स्वप्न से परे जनाई ।
 तन में जब बल पर्यो चित्त हू लाग्यो फरकन,
 बढ़ि बहु विषयन ओर लग्यो छानन हित सरकन;
 जैसे पंछी थको मरुस्थल की रज छानत
 गिरत परत जल तीर आय सहसा बल आनत ।
 ज्यों ज्यों प्रभु-मुखकांति मनोहर बढ़ति जाति अति
 त्यों त्यों औरहु खड़ी सुजाता है आराधति ।

बोले प्रभु “यह कौन पदारथ मो पै लाई ?”
 बोली सुनि यह बात सुजाता सीस नवाई—
 “सौ गैयन को दूध प्रथम दुहवाय मँगायो,
 लै पचास धौरी गैयन को ताहि खवायो;
 तिनको लै मै दूध खवायो पुनि पचीस चुनि,
 तिन पचीस को पय बारह को मैं दीनो पुनि;
 तिन बारह को दूध दियो पुनि सब गुन आँकी
 छः गैयन को बीछि, रही जो सब में बाँकी ।
 दुहि तिनको सो छीर आँच पै मृदु औटाई,
 तज, कपूर औ केसर सेँ विधि सहित बसाई,
 नए खेत सेँ बासमती चावर मँगवाई,
 एक एक कन बीनि धोय यह खीर बनाई ।
 भक्ति भाव सेँ साँचे, प्रभु ! मैं कीनो यह सब ।
 करी मनौती रही होयहै मोहि पुत्र जब
 तब या तरु तर आय चढ़ैहैं पूजा तेरी;
 नाथ दया सेँ सकल कामना पूजी मेरी ।”

भुवन-उबारनहार हाथ धरि शिशु के सिर पर
 बोले प्रभु “सुख बढ़त तिहारो जाय निरंतर ।
 परै न यह भवभार जानि या जीवन माही;
 सेवा तुमने करी, देव मैं कोऊ नाही ।”

मैं हूँ भाई एक और जैसे सब तेरे,
 पहले राजकुमार रह्यो, अब डारत फेरे ।
 निशि दिन खोजत फिरौँ ज्योति जो कतहूँ जागति,
 लहै कोउ जो ताहि, मिटै जग-अंधकार अति ।
 पैहौँ मैं सो ज्योति होत आभास घनेरो;
 तू ने तन मन गिरत सँभार्यो भगिनी ! मेरो ।
 अति पुनीत संजीवन पायस तू यह लाई;
 अपने जतनन ऐसी जीवनशक्ति जुटाई,
 बहु जीवन बिच होति गई जो बटुरति, बाढ़ति;
 लहत जन्म बहु गहत जात ज्यों जीव उच्च गति ।
 जीवन में आनंद कहा साँचहु तू पावति ?
 गृहसुख में निज मग्न और कछु मनहिँ न लावति ?”

सुनि सुजाता दियो उत्तर “सुनौ, हे भगवान् !
 नारि को यह हृदय छोड़ो, नाहिँ जानत आन ।
 नाहिँ भीजति भूमि जेतो मेंह थारो पाय
 नलिनपुट भरि जात है, खिलि उठत है लहराय ।

चहौँ बस सौभाग्यरवि की रहौँ आभा हेरि
 अमल पतिमुख-कमल में, मुसकान में शिशु केरि ।
 यहै जीवन को हमारे, नाथ ! है मधुकाल;
 मगन राखत मोहिँ तो घरबार को जंजाल ।

सुमिरि देवन उठति हौं नित उवत दिन, भगवान् !
न्हाय धोय कराय पूजन देति हौं कछु दान ।
काज में लगि आप दासिन देति सकल लगाय ।
जात यों मध्याह्न ह्वै; पतिदेव मेरे आय

सीस मेरी जानु पै धरि परत पाँव पसारि;
करौं बीजन पास बसि मुखचंद्र तासु निहारि ।
आय जब घर माहिँ भोजन करन बैठत राति
ठाढ़ि परसति ताहि व्यंजन लाय नाना भाँति ।

रसप्रसंग उठाय बहु कछु बेर लौं बतराय
फेरि सुख की नींद सोवति शिशुहि अंक बसाय ।
और सुख अब कौन चहिए मोहिं या जग माहिँ ?
रही प्रभु की दया सेाँ कछु कमी मोको नाहिँ ।

पुत्र दै निज पतिहि अब मैं भई पूरनकाम,
जासु कर को पिंड लहि सो भोगिहै सुरधाम ।
धर्मशास्त्र पुराण भाखत, हरत जे परपीर;
पथिक छाया हित लगावत पेड़ जे पथतीर,

जे खनावत कूप, छाँड़त पुत्र जे कुल माहिँ
सुगति लहि ते जात उत्तम लोक, संशय नाहिँ”

कह्यो ग्रंथन माहिं जो जो चलति हैं सो मानि,
सकौं मैं तिन मुनिन सों बढि बात कैसे जानि

होत सम्मुख रहे जिनके देवगण सब आय,
गए जे बहु मंत्र और पुराण शास्त्र बनाय,
धर्म को जे तत्त्व जानत रहे पूर्ण प्रकार,
शांति को जिन मार्ग खोज्यो त्यागि विषय-विकार ?

बात मैं यह जानती सब काल में सब ठौर
भले को फल शुभ, बुरे को अशुभ है, नहिँ और ।
लहत है फल मधुर नीके बीज को सब बोय
औ विषैले बीज को फल अवसि कड़वो होय ।

लखत इत ही, बैर उपजत द्वेष सों जा भाँति,
शील सों मृदु मित्रता औ धैर्य सों शुचि शांति ।
जायहै तन छाँड़ि जब तब कहा हूँ है नाहिँ
भलो बाहू लोक में ज्यों होत है या माहिँ ?

होयहै बढि कै कहूँ—ज्यों परत है जब खेत
धान को कन एक, अंकुर फेँकि सहसन देत ।
सकल चंपक को सुनहरो वर्ण औ विस्तार
रहत बिंदी सी कलिन में लुको पूर्ण प्रकार ।

यहौ जानौँ, परति ऐसी आपदा है^ॐ आय,
छूटि जब सब धीरता मुँह मोरि जाति पराय ।
जाय जैसे मरि कहूँ मम प्राणप्रिय यह लाल,
दरकि मेरो हियो ह्वै है दूक द्वै तत्काल ।

चाहिहौ^ॐ तो अवसि ही द्वै दूक सो ह्वै जाय ;
अंक में शिशु दाबि यह वा लोक जाहुँ सिधाय ।
बाट पति की रहैँ तब लौँ जोहती तहँ जाय
अंत वाकी घरी जब लौँ नाहिं पहुँचै आय ।

किंतु मेरे सामने परलोक जो पति जाय,
चिता पै मैं चढ़ौ^ॐ वाको सीस अंक बसाय ।
फूलि अंग समाहुँ ना जब अनल दहकै घोर;
उठै कुंडल बाँधि, छावै धूम चारों ओर ।

लिखी है यह बात, जो सहमरण करती वाम
तासु पुण्यप्रभाव सौँ पति लहत है सुरधाम,
संग ताके करत सुख सौँ तहाँ विविध विहार
वर्ष एते कोटि ताके सीस जेते बार ।

रहति मेरे हिये चिंता की न कोऊ बात;
दिवस जीवन के सदा आनंद में चलि जात ।

किंतु सुख में लीन मैं नहिँ भूलि तिनको जाति
पतित हैं, जे दीन हैं, दुख सहत जे दिन राति ।

यहै चाहौं दया तिन पै करें श्री भगवान्,
भलो जो बनि परत मोसेँ करति अपनी जान ।
चलति हैं मैं धर्म पै, विश्वास यह मन आनि
होयहै जो कछु भलोई, होयहै नहिँ हानि ।

कहत प्रभु “सिखि सकत तोसेँ जो सिखावत आन को,
कथत भोरी बात सेँ तेरी अधिक जो ज्ञान को ।
तू भली जो नाहिँ जानति, मगन जीवन में रहै;
धर्म अपनो जानि, बस तू और नहिँ जानन चहै ।

सहित परिजन छाँह में सुख की सदा फूलै फरै !
सत्य की खर ज्योति कोमल पात पै या ना परै ।
बढ़त बीरो जाय यह बहु लोक बीच पसार कै ।
अंत काहू जन्म में कढ़ि जाय यह भव पार कै ।

मोहिं पूजन तू चली, मैं तोहि पूजत हौं, अरी !
धन्य तेरो हियो निर्मल ! धन्य तव गति मतिभरी !
बुद्धि लहि, अनजान में शुभ पंथ तू दरसावती;
ज्यों परेई प्रेम के वश नीड़ की दिशि धावती ।

होत तोहि विलोकि नर-उद्धार की आशा सही,
मृठ जीवनचक्र की लखि परति अपने हाथ ही ।
होय तव कल्याण सुख में रहैं तेरे दिन सने !
करौ मैं निज काज पूरो करति ज्यों तू आपने,

चहत यह आसीस जाको देव तू जानति रही ।”
“काज पूरो होय प्रभु को” सुनि सुजाता ने कही ।
शिशु बढ़ाए हाथ प्रभु की ओर हेरत चाव सों
करत बंदन है मनो भगवान को भरि भाव सों ।

बोधिद्रुम

बल पाय पायस को उठे प्रभु डारि पग वा दिशि दिए
जहँ लसत बोधिद्रुम मनोहर दूर लौं छाया किए;
कल्पांत लौं जो रहत ठाढ़ो, कबहुँ नहिँ मुरझात है,
जो लहत पूजा लोक में चिरकाल लौं चलि जात है ।

है होत आयो बुद्धगण को बोध याही के तरे ।
पहिचानि प्रभु तत्काल ताकी ओर आपहि सों ढरे ।
सब लोक लोकन माहिँ मंगल मोद गान सुनात है* ।
प्रभु आज चलि वा अछय तरु की ओर, देखौ, जात है* ।

तकि वा तरु की छाँह जात जहँ उनई डार विशाल ।
मंडप सम सजि रह्यो चीकनो चमकत चल-दल-जाल ।
प्रभु पयान सेँ पुलकित पूजन करति अवनि हरषाय
चरणन तर बहु लहलहात तृण, कोमल कुसुम बिछाय ।

छाया करति डार भुकि बन की, मेघ गगन में छाय ।
पठवत वरुण वायु कमलन को गंधभार लदवाय ।
मृग, बराह औ बाघ आदि सब बनपशु बैर बिसारि
ठाढ़े जहँ तहँ चकित चाह भरि प्रभुमुख रहे निहारि ।

फन उठाय नाचत उमंग भरि निकसि बिलन सेँ व्याल ।
जात पंख फरकाय संग बहुरंग विहंग निहाल ।
सावज डारि दियो निज मुख तें चील मारि किलकार ।
प्रभु-दर्शन के हेतु गिलाई कूदति डारन डार ।

देखि गगन घनघटा मुदित ज्यौं नाचत इत उत मोर ।
कोकिल कूजत, फिरत परेवा प्रभु के चारो ओर ।
कीट पतंगहु परम मुदित लखि; नभ थल एक समान
जिनके कान, सुनत ते सिगरे यह मृदु मंगलगान—

“हे भगवन् ! तुम जग के साँचे मीत उबारनहारे ।
काम, क्रोध, मद, संशय, भय, भ्रम सकल दमन करि डारे ।

(१४४)

विकल जीव कल्याण हेतु दै जीवन अपनो सारो
जाव आज या बोधिद्रुम तर, प्रभु, हित होय हमारो ।

धरती बार बार आसीसति दबी भार सौं भारी ।
तुम हौ बुद्ध, हरौगे सब दुख, जय जगमंगलकारी !
जय जय जगदाराध्य ! हमारी करौ सहाय, दुहाई !
जुग जुग जाको जोहत आवत सो जामिनि अब आई ।”

मारविजय

बैठे प्रभु वा रैन ध्यान धरि जाय विटप तर ।
किन्तु मुक्तिपथ-बाधक नर को मार भयंकर
शोधि घरी चट पहुँचि गयो तहँ विघ्न करन को,
जानि बुद्ध को करनहार निस्तार नरन को ।
तृष्णा, रति औ अरति आदि को आज्ञा कीनी,
सेना अपनी छाँड़ि तामसी सारी दीनी ।
भय, विचिकित्सा, लोभ, अहंता, मत्त आदि अरि,
ईर्ष्या, इच्छा, काम, क्रोध सब संग दिये करि ।
प्रबल शत्रु ये प्रभुहि डिगावन हित बहुतेरे
करत राति भर रहे विघ्न उत्पात घनेरे ।
आँधी लै घनघोर घटा कारी घहराई
प्रबल तमीचर अनी घनी चारौ दिशि छाई ।

(१४५)

गर्जन तर्जन करति, मेदिनी कड़कि कँपावति,
तमकि करति चकचैँध चमाचम वज्र चलावति ।
कबहुँ कामिनी परम मनोहर रूप सजाई,
चहति लुभावन मनभावन मृदु बैन सुनाई ।
डोलत धीर समीर सरस दल परसि सुहावन;
लगत रसीले गीत कान में रस बरसावन ।
कबहुँ राजसुख-विभव सामने ताके लावत ।
संशय कबहुँ लाय 'सत्य' को हीन दिखावत ।

दृश्य रूप में भईं किधैँ ये बाते बाहर,
कैधैँ अनुभव कियो बुद्ध इनको अभ्यंतर,
आपहि लेहु बिचारि, सकत हम कहि कछु नाहीं ।
लिखी बात हम, जैसी पाई पोथिन माहीं ।

चले साथी मार के दस महापातक घोर ।
प्रथम 'हम हम' करत पहुँच्यो 'आत्मवाद' कठोर,
विश्व भर में रूप अपनो परत जाहि लखाय ।
चलै ताकी जो कहूँ यह सृष्टि ही नसि जाय ।

आय बोल्यो "बुद्ध हौ यदि करौ तुम आनंद,
जाय भटकन देहु औरन, फिरौ तुम स्वच्छंद ।
गुनौ तुम हौ तुमहि, उठि कै मिलौ देवन माहिं,
अमर है", निर्वृद्ध है", जे करत चिंता नाहिं ।"

बुद्ध बोले “कहत उत्तम जाहि तू, है नीच;
स्वार्थ में रत होयँ जे बकु जाय तिनके बीच ।”

पुनि ‘विचिकित्सा’ आई जो नहिं कछू सकारति ।
बोली प्रभु के कानन लगि हठि संशय डारति
“है” असार सब वस्तु—सकल भूठो पसार है—
औ असारता को तिनकी ज्ञानहु असार है ।
धावत है तू गहन आपनी केवल छाया ।
चल, ह्याँ ते उठ ! ‘सत्य’ आदि सबही हैं माया ।
मानु न कछु, करु तिरस्कार, पथ है यह बाँको ।
कैसो नरउद्धार और भवचक्र कहाँ को ?”
बोले श्री भगवान “शत्रु तू रही सदा हीं;
हे विचिकित्से ! काज यहाँ तेरो कछु नाही ।”
‘शीलव्रतपरमार्थ’ परम मायावी आयो,
देश देश में जाने बहु पाखंड चलायो,
कर्मकांड औ स्तवन माहिं जो नरन बभावत,
स्वर्गोदाम की कुंजी बाँधे फिरत दिखावत ।
बोल्या प्रभु सेँ “लुप्त कहा तू श्रुतिपथ करिहै ?
देवन को करि बिदा यज्ञमंडपन उजरिहै ?
लोप धर्म को करन चहत तू बसि या आसन,
याजक जासेँ पलत, चलत देशन को शासन ।”

बोले प्रभु “तू कहत जाहि अनुसरन मोहि है,
 क्षणभंगुर है रूप मात्र, नहिं विदित तोहि है ?
 किंतु सत्य है नित्य, एकरस, अचल सनातन ।
 अंधकार में भागु, न ह्याँ तू रहै एक छन ।”

दर्प सहित कंदर्प चढ़्यो पुनि प्रभु के ऊपर,
 जो सुरगण वश करत, बापुरो रहत कहाँ नर ?
 हँसत कुसुम धनुशायक लै पहुँच्यो वा तरु तर;
 बेधत हिय विषविशिखहु सों बढ़ि जासु पंच शर ।

चहुँ ओर चढ़ीं पुनि चंद्रमुखी अति चोप सों चंचल नैन चलाय ।
 रसरंगतरंग उठाय रहीं, मधुरो सुर साज के संग मिलाय ।
 सुर सो सुनि मानहुँ मोहित हूँ रजनी थिर सी परती दरसाय ;
 नभ में थमि तारक चंद रहे; नवनागरि गाय रहीँ समझाय—

“धिक ! खोय रह्यो निज जीवन तू तरुनीन को हास विलास विहाय
 यहि सों बढ़ि कै सुख और नहीं कोउ तीनहु लोकन माहिँ लखाय,
 बिगसे नव पीन पयोधर को परसै सरसै रस सौरभ पाय;
 भरि भाव सों भामिनि भौहँ मरोरि, चितै, मुँह मोरि रहै मुसकाय ।

कछु ऐसी लुनाई लखाति लसी ललनान के अंगन माहिँ ललाम ।
 कहि जाति न जो, मन जाय ढरै उत आप उमंग भरो अभिराम ।

सुख जो यह भोगत है जग में तिनको यहि लोकहि में सुरधाम ।
यहि के हित सिद्ध सुजान अनेक सिम्भावत हैं तन आठहु याम ।

फटकै दुख पास कहाँ जब कामिनि राखति है भुजपाश में लाय ?
यहि जीवन को सब सार हुलास उसास में दोउन के मिलि जाय ।
मृदु चुंबन पै इक चाह भरे सिगरो जग होत निछावर आय ।”
यहि भाँति अनेकन भाव बताय रही सब सुंदरि गाय रिभाय ।

मद की दुति नैनन में दरसै, अधरान पै मंद लसै मुसकान ।
फिरि नाचत में सुठि अंग सुढार छपैं उघरैं ललचावत प्रान,
खिलि कै कछु मानहुँ कंजकली लहि बात भकोर लगै लहरान,
दरसावति रंग, छपावति पै मकरंद भरो हिय आपनी जान ।

यहि रंग की रूपछटा की घटा उनई कबहूँ नहि देखि परी ।
तरु पास कढ़्यो दल पै दल आय नवेलिन को निशि में निखरी ।
बढ़ि एक सों एक रसीली कहै प्रभु सों “प्रिय ! हेरहु जाति मरी ।
अधरान को पान करौ इन, लै यहि यौवन को रस एक घरी ।”

डिगे नहि भगवान जब करि ध्यान नेकहु भंग,
तब चढ़ायो दाप सों उठि चाप आप अनंग ।
लखि पर्यो चट कामिनीदल दूसरो चितचोर ।
रही जो सब माहि रूरी बढ़ी प्रभु की ओर ।

रुचिर रूप यशोधरा को धरे पहुँची आय,
सनल नयनन में बिरह को भाव मृदु दरसाय
ललकि दोऊ भुजन को भगवान् ओर पसारि
मंद मृदु स्वर सहित बोली, भरि उसास निहारि—

“कुँवर मेरे ! मरति हौं मैं बिनु तिहारे, हाय !
स्वर्गसुख सो कहाँ, प्यारे ! सकत हौ तुम पाय
लहत जो रसधाम में वा रोहिणी के तीर,
जहँ पहार समान दिन मैं काटि रही अधीर ।

चलौ फिरि, पिय ! भवन, परसौ अधर मेरे आय,
फेरि अपने अंक में इक बेर लेहु लगाय ।
भूलि भूठे स्वप्न में तुम रहे सब कछु खोय ।
जाहि चाहत रहे एतो, लखौ, हौं मैं सोय ।”

कह्यो प्रभु “हे असत् छाया ! बस न आगे और ।
व्यर्थ तेरे यत्न और उपाय हैं या ठौर ।
देत हौं नहिँ शाप वा प्रिय रूप को करि मान
कामरूपिनि ! जाहि धरि तू हरन आई ज्ञान ।

किंतु जैसी तू, जगत् को दृश्य सब दरसाय ।
कढ़ी जहँ सेाँ भागु वाही शून्य मेँ मिलु जाय ।”

कढ़त ही ये वचन छाया रूप सब छन माँहि
उड़ि गयो चट धूम है, तहँ रहि गयो कछु नाहि ।

अंधड़ घना उठाय, अँधेरो नभ में छाए,
भारी पातक और और सब प्रभु पै आए ।
आई 'प्रतिघा' कटि में कारे अहि लपटाई,
देति शाप जो तिनके बहु फुफकार मिलाई ।
सौम्य दृष्टि ने प्रभु की मारी ताकी बोली,
मुख में कारी जीभ कीलि सी उठी न डोली ।
प्रभु को कछु करि सकी नाहि सब बिधि सों हारी ।
कारे नागहु रहे सिमिटि फन नीचे डारी ।
'रूपराग' पुनि आयो जाके वश नरनारी
जीवन को करि लोभ देत जीवनहि बिगारी ।
पाछे लगे 'अरूपराग' हू पहुँच्यो आई
देत कीर्ति की लिप्सा जो मन माहि जगाई;
बुधजन हू परि जात जाल में जाके जाई,
बहु श्रम साहस करत, लरत रणभूमि कँपाई ।
आयो तनि अभिमान; चल्यो 'औद्धत्य' फेरि बढ़ि
जासों धर्मी गनत लोग आपहि सब सों बढ़ि ।
चली 'अविद्या' अपनो दल बीभत्स संग करि,
कुत्सित और विरूप वस्तु सों गई भूमि भरि ।

परम घिनौनी बड़ी डोकरी बूढ़ी सो जब
 अंधकार अति घोर छाये सब ओर गयो तब ।
 विचले भूधर, उठी प्रभंजन सेाँ हिलि यामिनि,
 छाँड़ी मूसलधार दरकि घन, दमकी दामिनि ।
 भीषण उल्कापात बीच महि काँपी सारी,
 खुले घाव पै ताके मानो परी अँगारी ।
 वा अँधियारी माहिँ भयो पंखन को फरफर;
 चीत्कार सुनि पर्यो, रूप लखि परे भयंकर ।
 प्रेतलोक तें दल की दल चढ़ि सेना आई;
 प्रभुहि डिगावन हेतु रही सो ठट्ट लगाई ।

किन्तु डिगे नहिँ नेकु बुद्ध भगवान् हमारे ।
 ज्यों के त्यों तहँ रहे अचल दृढ़ आसन मारे ।
 लसत धर्म सेाँ रक्षित चारो दिशि सेाँ प्रभुवर,
 खाईं, कोटन बीच बसत ज्यों निडर कोउ नर ।
 बोधिद्रुम हूँ अचल रह्यो वा अंधड़ माहीं;
 हिल्यो न एकौ पात, ढरे हिमबिंदुहु नाहीं ।
 बाहर सब उत्पात विघ्न हूँ रहे भयंकर
 किंतु शांति अति छाये रही ताकी छाया तर ।

अभिसंबोधन

बीतत पहिलो पहर मार की सेना भागी ।
 गई शांति अति छाया, वायु मृदु डोलन लागी ।
 प्रभु ने 'सम्यक् दृष्टि' प्रथम यामहि में पाई,
 सकल चराचर की जासों गति परी लखाई ।
 'पूर्वानुस्मृति ज्ञान' दूसरे पहर पाय पुनि
 जातिस्मर हूँ गए पूर्ण भगवान् शाक्यमुनि ।
 तुरत सहस्रन जन्मन की सुधि तिनको आई,
 जब जब जनमे जहाँ जहाँ जिन जोनिन जाई ।
 ज्यों फिरि पाछे कोउ निहारत दीठि पसारी
 बहुत दूर चलि पहुँचि शिखर पै गिरि के भारी,
 देखत पथ में परे मोहिँ कैसे कैसे थल !
 ऊँचे नीचे दूह, खोह, नारे औ दलदल ;
 बीहड़ बन घन, देखि परत जो सिमटे ऐसे
 महि अंचल पै टँकी हरी चकती है जैसे ;
 गहरे गहरे गर्त गर्यो जिन माहिँ पसीनो,
 जिनसों निकसन हेतु साँस भरि भरि श्रम कीनो ;
 ऊँचे अगम कगार छुटी भाईं जहँ चढ़तहि
 खिसलत खिसलत पाँव गयो बहु बार जहाँ रहि
 हरी हरी दूबन सों छाए पटपर सुंदर ;
 निर्मल निर्भर, दरी और अति सुभग सरोवर ;

औ धुँधले नग अंचल समतल जिनपै जाई
लपक्यो पहुँचन हेतु नील नभ कर फैलाई ।
बहु जन्मन की दीर्घ शृंखला प्रभु लखि पाई ।
क्रम क्रम ऊँची होति चली सीढ़ी सी आई,
अधम वृत्ति की अधोभूमि सों चढ़ति निरंतर
उच्च भूमि पै पहुँची निर्मल, पावन, सुंदर,
लसत जहाँ 'दश शील' जीव को लै जैबे हित
अति ऊँचे निर्वाणपथ की ओर अविचलित ।

देख्यो पुनि भगवान् जीव कैसे तन पाई
पूर्व जन्म में जो बोयो काटत सो आई ।
चलत दूसरो जन्म एक को अंत होत जब,
जुरत मूर में लाभ, जात कढ़ि खोयो जो सब ।
लख्यो जन्म पै जन्म जात ज्यों ज्यों बिहात हैं
बढ़त पुण्य सों पुण्य, पाप सों पाप जात हैं ।
बीच बीच में मरणकाल के अंतर माहीं ।
लेखो सब को होत जात है तुरत सदाहीं ।
या अचूक लेखे में बिंदुहु छूटत नाही,
संस्कार की छाप जाति लगि जीवन माहीं ।
या बिधि जब जब नयो जन्म प्राणी हैं पावत
पूर्व जन्म के कर्मबीज सँग लीने आवत ।

भई 'अभिज्ञा' प्राप्त तीसरे पहर प्रभुहि पुनि,
 पायो 'आश्रय ज्ञान' तबै भगवान् शाक्य मुनि ।
 लोक लोक में दृष्टि तासु जब पहुँची जाई
 हस्तामलक समान विश्व सब पर्यो लखाई ।
 लखे भुवन पै भुवन, सूर्य्य पै सूर्य्य करोरन,
 बँधी चाल सों घूमत लीने अपने ग्रहगन
 ज्यों हीरक के द्वीप नीलमणि-अंबुधि माहीं,
 ओर छोर नहिँ जासु, थाह कहुँ जाकी नाहीं,
 बढ़त घटत नहिँ कबहुँ, जुब्ध जो रहत निरंतर,
 जामें रूपतरंग उठत रहि रहि छन छन पर ।
 अमित प्रभाकर पिंड किए प्रभु यों अवलोकन,
 अलख सूत्र सों बाँधि नचावत जो बहु लोकन,
 करत परिक्रम आपहु अपने सों बढि केरी,
 सोउ अपने सों महज्ज्योति की डारत फेरी ।
 परंपरा यह जगी ज्योति की प्रभुहि लखानी
 अमित, अखंड, न अंत सकत कहुँ जाको मानी ।
 लगत केंद्र सो जो सोऊ है डारत फेरे;
 बढ़त चक्र पै चक्र गए या विधि बहुतेरे ।
 दिव्य दृष्टि सों देख्यो प्रभु लोकन को यावत्
 अपनो अपनो कालचक्र जो घूमि पुरावत ।
 महाकल्प वा कल्प आदि भर भोग पुराई,
 ज्योतिहीन ह्वै, छीजि, अंत में जात बिलाई ।

ऊँचे नीचे चारो दिशि प्रभु डार्यो छानी ;
नीलराशि सो लखि अनंत मति रही भुलानी ।
सब रूपन सों परे, लोक लोकन सों न्यारे,
और जगत् की प्राणशक्ति सों दूर किनारे,
अलख भाव सों चलत नियत आदेश सनातन,
करत तिमिर को जो प्रकाश औ जड़ को चेतन,
करत शून्य को पूर्ण, घटित अघटित को जो है
औ सुंदर को औरहु सुंदर करि जग मोहै ।

या अटल आदेश में कहूँ शब्द आखर नाहिँ ।
नाहिँ आज्ञा करनहारो कोउ या विधि माहिँ ।
सकल देवन सों परे यह लसत नित्य विधान
अटल और अकथ्य, सब सों प्रबल और महान् ।

शक्ति यह जग रचति, नासति, रचति बारंबार ;
करति विविध विधान सब निज धर्मविधि अनुसार ।
सर्गमुख गति माहिँ जाके त्रिगुण हैं बिलगात ;
रजस् सों है सत्त्व की दिशि लक्ष्य जासु लखात ।

भले वेई चलै जे या शक्तिगति अनुकूल ।
चलै जे विपरीत वेई करत भारी भूल ।
करत कीटहु भलो अपनो जातिधर्म पुराय ;
बाज नीको करत गेदन हित लवा लै जाय ।

मिलि परस्पर विपुल विश्वविधान में दै योग
ओसकण उडुगण दमकि निज करत पूरो भोग ।
मरन हित जो मनुज जीयत, मरत पावन हेत
जन्म उत्तम, चलै सो यदि धर्म पथ पग देत,

रहै कल्मषहीन, सब संकल्प दृढ़ ह्वै जायँ ;
बड़े छोटे जहाँ लौं भव भोग करत लखायँ
करै तिनको पथ सुगम नहिँ कबहुँ बाधा देय,
लोक में परलोक में सब भाँति यों यश लेय ।

लख्यो चौथे पहर प्रभु पुनि 'दुःखसत्य' महान्
पाप सों मिलि घोर कटु जो करत विश्वविधान;
चलति भाथी माहिँ जैसे सीढ़ लगि लगि जाय
जाति दहकति आगि जासें बार बार भँवाय ।

'आर्य सत्यन' माहिँ जो यह 'दुःखसत्य' प्रधान,
पाय तासु निदान देख्यो ध्यान में भगवान
दुःख छाया रूप लाग्यो रहत जीवन संग,
जहाँ जीवन तहाँ सोऊ रहत काहू ढंग ।

छुटै सो नहिँ कबहुँ जौ लौं छुटै जीवन नाहिँ
निज दशान समेत पलटति रहति जो पल माहिँ—

छुटै जब लौं नाहिँ सत्ता और कर्मविकार,
जाति, वृद्धि, विनाश, सुख, दुख, राग, द्वेष अपार :

सुखसमन्वित शोक सब औ दुःखमय आनंद
छुटत नहिँ, नहिँ होत जब लौं ज्ञान 'ये हैं फंद ।'
किंतु जानत जो 'अविद्या के सबै ये जाल'
त्यागि जीवनमोह पावत मोक्ष सो तत्काल ।

व्यापक ताकी दृष्टि होति सो लखत आप तब
याहिँ 'अविद्या' सौँ जनमत हैं 'संस्कार' सब,
'संस्कार' सौँ उपजत हैं 'विज्ञान' घनेरे
'नामरूप' उत्पन्न होत जिनसौँ बहुतेरे ।
'नामरूप' सौँ 'षडायतन' उपजत जाको लहि
जीव विवश है दर्पण सम बहु दृश्य रहत गहि ।
'षडायतन' सौँ फेरि 'वेदना' उद्भव पावति
जो भूठे सुख औ दारुण दुख बहु दरसावति ।
यहै वेदना वा 'तृष्णा' की जननि पुरानी
भवसागर में धँसत जात जाके वश प्राणी;
चल तरंग बिच खारी ताके रहत टिकाई
सुख संपत्ति, बहु साध, मान औ कीर्ति, बड़ाई,
प्रीति, विजय, अधिकार, वसन सुंदर, बहु व्यंजन,
कुलगौरव-अभिमान, भवन ऊँचे मनरंजन,

दीर्घ आयु-कामना तथा जीबे हित संगर,
 पातक संगरजनित, कोउ कटु, कोऊ रुचिकर ।
 या विधि तृष्णा बुझति सदा इन घूँटन पाई
 जो वाको करि दूनी औरहु देत बढ़ाई ।
 पै ज्ञानी हैं दूर करत मन सों या तृष्णाहिँ,
 भूठे दृश्यन सों इंद्रिन को तृप्त करत नहिँ ।
 राखत मन दृढ़ विचलि न काहू ओर डुलावत
 करत जतन जंजाल नाहिँ, नहिँ दुख पहुँचावत
 पूर्वकर्म अनुसार परत जो कछु तन ऊपर
 सो सब हैं सहि लेत अविचलित चित्त निरंतर ।
 काम, क्रोध, रागादि दमन सबको करि डारत,
 दिन दिन करि कै छीन याहि विधि तिनको मारत ।
 अंत माहिँ यों पूर्वजन्म को सार भारमय,
 जन्म जन्म को जीवात्मा को जो सब संचय—
 मन में जो कछु गुन्यो और जो कीनो तन सों,
 अहंभाव को जटिल जाल जो बिन्यो जुगन सों
 काल कर्म को तानो बानो तानि अगोचर—
 सो सब कल्मषहीन शुद्ध हैं जात निरंतर ।
 फिर तो जीवहिँ धरन परत नहिँ देहहि या तो
 अथवा ऐसो विमल ज्ञान ताको हैं जातो,
 धरत देह जो फेरि कतहुँ नव जन्महिँ पाई
 हरुओ हैं भवभार ताहि नहिँ परत जनाई ।

(१५९)

चलत जात आरोहपंथ पै या प्रकार सेँ
मुक्त 'स्कंधन' सेँ, छूटत मायाप्रतार सेँ,
उपादान के बंधन औ भवचक्र हटाई
पूर्णप्रज्ञ है जगत मनो दुःस्वप्न विहाई,
अंत लहत पद भूपन सेँ, सब देवन सेँ बढ़ि ।
जीवन की सब हाय हाय मिटि जाति दूर कढ़ि ।
गहत मुक्त शुभ जीवन, जो नहिं या जीवन सम,
लहत चरम आनंद, शांति, **निर्वाण** शून्यतम ।
निर्विकार अविचल विराम को यहै ठौर है,
यहै परम गति, जाको नहिं परिणाम और है ।

इत बुद्ध ने संबोधि पाई प्रगट उत ऊषा भई ।
प्राची दिशा में ज्योति अभिनव दिवस की जो जगि गई,
सो जात सरकत यामिनीपट बीच कारे ढरि रही,
भगवान् की या विजय की मृदु घोषणा सी करि रही ।

नव अरुण-आभा-रेख अब धुँधले दिगंचल पै कढ़ी ।
नभनीलिमा ज्यों ज्यों निखरि कै जाति ऊपर को बढ़ी
त्यों त्यों सहस्रि कै शुक्र अपनो तेज खोवत जात है;
पीरो परो, फीको भयो, अब लुप्त होत लखात है ।

शुभ दरस दिनकर को प्रथम ही पाय नग छायासने
करि पद्मराग-किरीट-भूषित भाल सोहत सामने ।

संचरत प्रात समीर को सुखपरस लहि सुमनहु जगे,
बहु-रंगरंजित दलद्वगंचल नवल निज खोलन लगे ।

हिमजटित दूबन पै प्रभा मृदु दौरि जो छन में गई
गत रैन के अँसुवान की बूँदैँ बिखरि मोती भई ।
आलोक के आभास सों वा भूमि सारी मढ़ि रही ।
उत गगनतट घन पै सुनहरी गोट चमचम चढ़ि रही ।

हेमाभ वृंत हिलाय हरषत ताल करत प्रणाम हैं ।
गिरिगह्वरन के बीच धँसि जगमगति किरन ललाम हैं ।
जलधार मानिक के तरंगित जाल सी दरसाय है ।
जगि ज्योति सारे जीव जंतुन जाय रही जगाय है;

घुसि सघन भापस माहि वन की रुचिर रम्य थलीन के
है कहति “दिन अब हूँ गयो” चकचौधि चख हरिनीन
जो नीड़ में सिर नींद में गड़ि बीच पंखन के परे
चलि कहति तिनके पास “गीत प्रभात के गाओ, अरे !”

कलरव पखेरुन को सुनाई परत अब जाओ जहाँ;
मृदु कूक कोयल की, पपीहन की बँधी रट ‘पी कहाँ’;
तितरौख की ‘उठ देख’, ‘चुह चुह’ चपल फूलचुहीन की;
टे’ टे’ सुअन की, धुन सुरीली सारिका सूहीन की;

(१६१)

किलकिलन की किलकार, 'काँ काँ' काककंठ कठोर की ;
'टर टर' करेदुन की करारी, कतहुँ केका मोर की ;
पुलकित परेवन की परम प्रिय प्रेमगाथा रसभरी
जो चुकनहारी नाहिं जौ लौं चुकति नहिं जीवनधरी ।

ऐसो पुनीत प्रभाव प्रभु के परम विजयप्रभात को
घर घर बिराजी शांति, भगरो नाहिँ काहू बात को ।
भट फेंकि दीनी दूर छूरी बधिक तजि बधकाज को ।
लै फेरि धन बटपार दीनो, बणिक छाँड़था व्याज को ।

भे क्रूर कोमल, हृदय कोमल औरहू कोमल भए
पीयूष सो संचार दिव्य प्रभात को वा लहि नए ।
रण थामि दीनो तुरत नरपति लरत जो रिस सौं भरे ।
बहु दिनन के रोगी हँसतमुख उछरि खाटन सौं परे ।

नर मरन के जो निकट सहसा सोउ प्रमुदित ह्वै गए
लखि उदित होत प्रभात मानो देश सौं काहू नए ।
पिय सेज ढिग जो दीन हीन यशोधरा बैठी रही,
हिय बीच वाहू के हरख की धार सी सहसा बही ;

मन माहिँ ताके उठति आपहि आप ऐसी बात है
'जो प्रेम साँचो होय कबहुँ नाहिँ निष्फल जात है ।

या घोर दुख को अंत यों सुख भए बिनु रहि जायहै
हैं सकत ऐसो नाहिँ;’ आगम परत कछुक जनाय है ।

छायो उछाह अपार यदपि न कोउ जानत का भयो ।
सुनसान बंजर बीच हू संगीत को सुर भरि गयो ।
आगम तथागत को निरखि निज मुक्ति-आस बँधाय कै
मिलि भूत, प्रेत, पिशाच गावत पवन में हरखाय कै ।

‘जगकाज पूरो हूँ गयो’ नभ देववाणी यह भई;
अति चकित पुरजन बीच पंडित खड़े बीथिन में कई
लखि स्वर्णज्योति-प्रवाह सो जो गगन बोरत जात है,
यों कहत “भाई ! भइ अलौकिक अवसि कोऊ बात है ।”

बन, ग्राम के सब जीव बैर बिहाय बिहरत लखि परे ।
जहँ दूध बाधिन प्यावती तहँ चित्रमृग सोहत खरे ।
वृक मेष मेल मिलाप सों हैँ चलत एकहि बाट पै ।
गो सिंह पानी पियत हैँ मिलि जाय एकहि घाट पै ।

भितराय गरल भुजंग मणिधर फन रहे लहराय हैं;
बसि पास चेँचन सों गरुड़ निज पंख रहे खुजाय हैं ।
कढ़ि सामने सों जात बाजन के लवा, कछु भय नहीँ ।
बैठे मगन बक ध्यान में, बहु मीन खेलत हैं वहीँ ।

बैठे भुजंगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं,
 पै आज झपटत नेकु नहिँ तितलीन पै दरसायँ हैं,
 या फूल तें वा फूल पै जो चपल गति सोँ धावतीं,
 सित, पीत, नील, सुरंग, चित्रित पंख को फरकावतीँ ।

धरि दिव्य तेज दिनेश सोँ बड़ि नाशहित भवभार के,
 लहि अमित विजय-विभूति जीवन हित सकल संसार के ।
 वा बोधितरु तर ध्यान में भगवान हैं बैठे अबै
 पै तासु आत्मप्रभाव परस्यो मनुज पशु पंछिन सबै ।

अब बोधितरु तर सोँ उठे हराखय कै
 प्रभु दिव्य तेज, अनंत शक्तिहि पाय कै ।
 यह बोलि वाणी उठे आति ऊँचे स्वरै,
 सब देश में सब काल में जो सुनि परै—

“अनेक जाति संसारं संधाविसमनिब्बसं ।
 गहकारकं गवेसंतेो दुःखजाति पुनः पुनः ।
 गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
 सब्बा ते फासका भग्गा, गहकूटं विसंकिंतं
 बिसंखारगतं चित्तं, तण्हानं खयमज्झगा ।”

“गहत अनेक जन्म भव के दुख भोगत बहु चलि आयो ।
 खोजत रह्यो याहि गृहकारहिँ, आज हेरि हैं पायो ।

(१६४)

हे गृहकार ! फेरि अब सकिहै तू नहिँ भवन उठाई ।
साज बंद सब तोरि धौरहर तेरो दियो ढहाई ।
संस्कार सौँ रहित सर्वथा चित्त भयो अब मेरो ।
तृष्णा को क्षय भयो, मिट्यो यह जन्म जन्म को फेरो ।”

सप्तम सर्ग

कपिलवस्तु-गमन

इन बहु वर्षन बीच बसत नरपति शुद्धोदन
पुत्र-विरह में शाक्य नायकन बीच खिन्न मन ।
पियवियोग में यशोधरा दुख के दिन पूरति,
छाँड़ि सकल सुख भोग सोग में परी बिसूरति ।
ढोर लिए जो कंजर थल थल डोलनहारे,
लाभ हेतु जो देश देश घूमत बनिजारे
तिनसेँ काहू यती विरागी की सुधि पावत
नरपति दूत अनेक तहाँ तुरतहि दौरावत ।
ते फिरि आवत, कहत बात बहु साधुन केरी
जो तजि कै घरबार बसत निर्जन थल हेरी ।
पै लायो संवाद नाहिं कोउ ताको प्यारो
कपिलवस्तु के राजवंश को जो उजियारो,
भूपति की सारी आशा को एक सहारो,
यशोधरा के प्राणन को धन सर्वस प्यारो;
कहाँ कहाँ जो भूलो भटको घूमत ह्वै है
भयो और को और, चीन्हि नहिं कोऊ पैहै ।

देखो यह बासर बसंत को, रसाल फूलि
अंग न समात मंजु मंजरीन सों भरे ।
सारी धरा साजे ऋतुराज साज सोहति है,
सुमन सहित पात चीकने हरे हरे ।
कुँवरि उदास बैठी बाटिका के बीच जाय
कंजपुट-कलित सरिततीर भाँवरे ।
दर्पण सी धार में बिलोके बहु बार जहाँ
ओठन पै ओठ, पाणिपाश कंठ में परे ।

आँसुन पलक भारी, कोमल कपोल छीन,
विरह की पीर अधरान पै लखाति है ।
चपि रही चीकने चिकुर की चमक चारु,
बेणी बीच बँधि नेकु नाहिं बगराति है ।
आभरनहीन पीरी देह पै है सेत सारी,
खचित न जापै कहूँ हेमनगपाँति है ।
पाय पिय बोल गति हरति जो हंसन की
चरन धरत सोइ आज थहराति है ।

स्नेहदीप सरिस नवल जिन नैनन की
कालिमा सों फूटति रही है द्युति अभिराम—
शर्वरी के शांतिपट बीच है जगति मनो
दिवस की ज्योति कमनीय याही सुखधाम—

ज्योतिहीन, लक्ष्यहीन आज सोइ घूमत हैं,
लखत न नेकु ऋतुराज की छटा ललाम ।
पलकें रही हैं ढरि, उघरत नाहिं पूरी,
अधखुली पूतरी पै बरुनी परी हैं श्याम ।

एक कर माहिँ मोतीजरो कटिबंध सोइ
जाहि तजि कुँवर निकसि गयो रैन वहि ।
हाय ! विकराल सोइ जामिनि जननि भई
केते दुखभरे दिवसन की, न जात कहि ।
गाढ़ो प्रेम एतो नाहिँ निठुर कबहुँ भयो
साँचे प्रेम प्रति ऐसे कहूँ जग बीच यहि ।
एक बात भई यासों, जीवन लौं याही बँधि
मिति र्याह प्रेम की हमारे नाहिँ गई रहि ।

दूजे कर बीच कर सुन्दर परम निज
बालक को, जासु नाम राहुल धरो गयो,
थाती रूप छाँड़ि कै कुमार चलि गयो जाहि,
बढ़ि कै जो आज सात वर्ष एक को भयो ।
चंचल स्वभावबस डोलन लग्यो है घूमि
जननी के पास इत उत मोद सों छयो ।
विभव-विकास पुष्पहास कुसुमाकर को
हेरि हेरि होत है हुलास चित्त में नयो ।

नलिनमय वा पुलिन पै दोउ रहे बसि कछु काल ।
हँसत फेंकत जात मीनन ओर मोदक बाल ।
बैठि दुखिया जननि निरखति उड़त हंसन ओर,
करति विनय उसास भरि, धरि नीर दृग की कोर—

“हे गगनचर ! होय जहँ पिय कढ़ौ जो तहँ जाय,
दीजियो संदेस मेरो ताहि नेकु सुनाय ।
दरस हित औ परस हित अति तरसि बहु दुख पाय
दीन हीन यशोधरा अब मरन ढिग गइ आय ।”

बिहँसि बोली अनुचरी बहु आय एते माहिँ
“देवि ! अब लौं सुन्यो यह संवाद कैधौ नाहिँ ?
त्रपुष, भल्लिक नाम के द्वै सेठ माल लदाय
आज दक्षिण नगरतोरण पास उतरे आय ।

दूर देशन फिरत सागरकंठ लौं जे जात
लिए नाना वस्तु जो हैं संग में दरसात—
स्वर्णखचित अमोल अंबर, रत्नजटित कटार,
पात्र चित्र विचित्र, मृगमद, अगर, कुंकुमभार ।

किंतु ये सब वस्तु जाके सामने कछु नाहिँ,
परम प्रिय संवाद लाए आज खो पुर माहिँ ।

दोउ देखे चले आवत शाक्य राजकुमार,
प्राणपति जीवन तिहारे, देश के आधार ।

कहत हम साक्षात् दर्शन कियो तिनको जाय;
दंडवत करि करी पूजा भक्तिभेंट चढ़ाय ।
कह्यो बुधजन रह्यो जो सो भए पूर्ण प्रकार,
परम दुर्लभ ज्ञान ज्ञानिन को सिखावनहार ।

भए जगदाराध्य प्रभु, अति शुद्ध बुद्ध महान् ;
करत नर निस्तार औ उद्धार दै शुभ ज्ञान
मधुर वाणी सेँ, दया सेँ, जासु ओर न छोरे ।
कहत दोऊ सेठ प्रभु हैं चले याही ओर”

सुनत शुभ संवाद उमड़्यो हृदय माहिँ उछाह,
ज्योँ हिमाचल सेँ उमगि कै कढ़त गंगप्रवाह ।
कुँवरि उठि कै भई ठाढ़ी हर्ष पुलकित गात
ठारि दृग सेँ बूँद मोती सरिस, बोली बात—

“तुरत लाओ जाय सेठन को हमारे पास;
पान हित संवाद के शुभ श्रवण को अति प्यास ।
जाव, तिनको तुरत लाओ संग माहिँ लिवाय ।
कतहुँ जो संवाद तिनको निकसि साँचो जाय !

निकसिहै संवाद जो यह सत्य, कहियो जाय,
अवसि फाँड़न माहिँ देहैं स्वर्ण रत्न भराय ।
और तुमहूँ आइयो सँग लेन को उपहार -
हैं सकै पै नाहिँ सो आनंद के अनुसार ।”

चले दोऊ बणिक दासिन संग, आज्ञा पाय
कुँवर के वा रंगभवन प्रवेश कीनो जाय ।
चलत कंचनकलित पथ पै धरत धीमे पावँ ।
राजवैभव निरखि लोचन चकित हैं सब ठावँ ।

कनकचित्रित पट परे जहँ दोउ पहुँचे जाय ।
क्षीण, कंपित, मधुर स्वर यह पर्यो कानन आय—
“सेठ ! आवत दूर तेँ हौ; कतहुँ राजकुमार
परे तुमको देखि, ये सब कहति बारंबार ।

करी पूजा तासु तुमने, त्यागि जो भवभार
शुद्ध बुद्ध त्रिलोकपूजित हैं करत उद्धार ।
मुन्यो अब या ओर आवत; कहौ, यदि यह होय
परम प्रिय या राजकुल के होयहौ तुम दोय ।”

बोल्यो सीस नवाय त्रपुष “हे देवि, हमारी !
आवत हैं इन नयनन सेाँ हम प्रभुहि निहारी ।

पायँन पै हम परे; रह्यो जो कुँवर हिरायो
 सब राजन महाराजन सों बढ़ि वाको पायो ।
 बोधिद्रुम तर फल्गु किनारे आसन लाई
 जासों जग उद्धरै सिद्धि सो वाने पाई ।
 सब को साँचो सखा, सकल जीवनपति प्यारो
 पै सब सों कहूँ बढ़िकै है सो, देवि ! तिहारो,
 जाके साँचे आँसुन ही को मोल कहैहै
 जो अनुपम सुख प्रभु के वचनन सों जग पैहै ।
 'कुशल क्षेम सों हैं' कहियो यह है विडंबना
 सब तापन सों परे, तिन्है^५ दुख परसि सकत ना ।
 भेदि सकल भवजाल गए देवन तें ऊपर,
 सत्य धर्म की ज्योति पाय जगमगत भुवन भर ।
 नगर नगर में ज्यों ज्यों फिरि उपदेश सुनावत
 तिन मार्गन को जीव शातिसुख जिनसों पावत,
 त्यों त्यों पाछे होत जात तिनके नरनारी—
 ज्यों पतझड़ के पात वात के हैं अनुसारी ।
 पास गया के रम्य क्षीरिकावन में जाई
 हम दोउन ने सुने वचन तिनके सिर नाई ।
 चौमासे के प्रथम अवसि प्रभु इत पधारिहै^५,
 उपदेशन सों मधुर शोक दुख सकल टारिहै^५ ।”

यशोधरा को कंठ हर्ष सेँ गद्गद भारी,
बड़ी बेर में सँभरि वचन यह सकी उचारी—
“हे सुजान जन ! भलो होयहै सदा तुम्हारो ।
लाए तुम संवाद मोहिँ प्राणन तें प्यारो ।
जानत जो तुम होहु, मोहिँ अब यहौ बताओ
कैसे यह सब बात भई, कहि मोहिँ सुनाओ ।”

भल्लिक ने तब कही बात वा निशि की सारी,
जानत जाको ‘गय’ पर्वत के सब नरनारी ।
कैसी घनी अँधेरी में छाया दरसानी,
मारकोप सेँ कँपी धरा, भो खलभल पानी ।
कैसे भव्य प्रभात भयो पुनि, भानु संग जब
आशा की नव ज्योति जगी सो जीवन हित सब;
कैसे तब भगवान मिले वा बोधिविटप तर
धरे तेज आनंद अलौकिक मुख पै सुन्दर ।
भए आप तो मुक्त बुद्ध संबोधिहि पाई
‘कैसे हमसेँ दुखी जगत् की होय भलाई’
परे सोच में रहे याहि प्रभु कछु दिन ताई’,
बोझ सरीखो एक हृदय पै परत जनार्ई ।
विषय भोग में लिप्त पापरत जन संसारी,
गहत रहत जो नाना वस्तुन सेँ भ्रम भारी,

आँखिन पर को परदो जो नहिं चाहत टारन,
उरभे जामें तोरि सकत सो इंद्रियजाल न,
कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहिं करिहैं ?
‘अष्ट मार्ग’ ‘द्वादश निदान’ कैसे चित धरिहैं ?
येई हैं उद्धारद्वार, पै है विचित्र गति !
खग पींजर में पलो लखत नहिं खुले द्वार प्रति ।
खोजि मुक्ति को मार्ग ताहि नर हेतु कठिन गुनि
आपै इकले चलते जो भगवान् शाक्य मुनि,
जग में काहुहि जानि तत्त्व को नहिं अधिकारी
तजते जो प्रभु लहते गति कैसे नरनारी ?

सब जीवन पै दया रही पै प्रभु के हृदय समानी ;
याहि बीच सुनि परी दुखभरी अतिशय आरत बानी ।
जनु “नश्यामि अहँ भूर्नश्यति लोकः” भू चिल्लाई ।
कछुक बेर लौं शांति रही पुनि धुनि पवनहुँ तें आई—

भगवान् ! धर्म सुनाइए, भगवान् ! धर्म सुनाइए ।
भवताप तें हैं जरि रहे अब नेकु बार न लाइए ।

दिव्य दृष्टि भगवान् तुरत प्राणिन पै डारी
देख्यो को हैं सुनन योग्य, को नहिं अधिकारी ;
जैसे रवि, जो करत कनकमय अमल कमलसर,
लखत कौन हैं, कौन नाहिं कलियाँ बिगसन पर ।

बोली उठे भगवान् “सुनैँ जो जहाँ जहाँ हैं ;
अवसि सिखैहैं धर्म, सिखैं जो सीखन चाहैं ।”

भिक्षु पंचवर्गीय ध्यान में प्रभु के आए ।
वाराणसि की ओर तुरत भगवान् सिधाए ।
तिन ही को उपदेश प्रथम प्रभु जाय सुनायो,
‘धर्मचक्र’ को कियो प्रवर्त्तन ज्ञान सिखायो ।
मंगलमय ‘मध्यमा प्रतिपदा’ तिन्हें बताई
‘आर्य्य सत्य’ गत दियो ‘मार्ग अष्टांग’ सुभाई ।
जन्म मरण सों छूटि सकत हैं कैसे प्राणी,
पूरो जतन बताय बुद्ध बोले यह बानी—
“है मनुष्य की गति वाही के हाथन माहीं,
पूर्व कर्म को छाँड़ि और भावी कुछ नाहीं ।
नहिँ ताके अतिरिक्त नरक है कोऊ, भाई !
आपहिँ नर जो लेत आपने हेतु बनाई ।
स्वर्ग न ऐसो कोउ जहाँ सो जाय सकत नहिँ
जो राखत मन शांत, दमन करि विषय वासनहिँ ।”

पाँच जनन में भयो प्रथम कौंडिन्य सुदीक्षित
‘चार सत्य’, ‘अष्टांग मार्ग’ में हूँ कै शिक्षित ।
महानाम, पुनि भद्रक, वासव और अश्वजित
धर्म मार्ग में करि प्रवेश हूँ गए शांत चित ।



‘यश’ नामक पुनि एक सेठ काशी को भारी
 बुद्ध शरण गहि भयो प्रव्रज्या को अधिकारी ।
 चार मित्र सुनि तासु भए पुनि भिक्षुक आई ।
 पुरजन और पचास प्रव्रज्या प्रभु सौं पाई ।
 परी कान में जहाँ जहाँ बानी प्रभु केरी
 उपजी तहँ तहँ नवयुग की सी शान्ति घनेरी;
 ज्यों पावस की धार परत जब पटपर ऊपर
 नव तृण अंकुर लहलहाय फूटत अति सुंदर ।

पठयो प्रभु इन साठ भिक्षुकन को प्रचार हित
 पाय तिन्हें संयमी, विरागी और धीर चित ।
 इसिपत्तन मृगदाव माहिँ यह संघ बनाई
 गए राजगृह पास यष्टिवन ओर सिधाई ।
 कछुक दिनन लौं रहे तहाँ उपदेश सुनावत ।
 बिबसार नृप, पुरजन परिजन लौं सब यावत्
 भए बुद्ध की शरण प्राप्त सब मोह बिहाई
 धर्म, शील, संयम, निरोध की शिक्षा पाई ।
 कुश लै कै संकल्प दियो करि भूपति ने तब
 परम सुहावन रम्य वेणुवन ‘संघ’ हेतु सब,
 जामें सुंदर गुहा सरित, सर, कुंज सुहाए ।
 शिला तहाँ गड़वाय नृपति ये वाक्य खुदाए—

**ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह ।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो ।**

“हेतु ते’ उत्पन्न जो हैं धर्म—दुखसमुदाय—
हेतु तिनको कहि तथागत ने दियो सब आय ।
आर तासु निरोध हू पुनि महाश्रमण बताय
लियो या बूढ़त जगत को बाहँ देय बचाय ।”

सोइ उपवन माहिँ बैठ्यो संघ एक महान्
ओजपूर्ण अपूर्व भाख्यो ज्ञान श्रीभगवान् ।
सुनत सब पै गयो दिव्य प्रभाव ऐसो छाया,
आय नौ सौ जनन ने लै लियो वस्त्र कषाय

और लागे जाय कै ते करन धर्मप्रचार ।
बुद्ध ने यों कहि विसर्जित कियो संघ अपार—

**सब्ब पापस्स अकरणं; कुसलस्स उपसंपदा
सच्चित्त परियो दवनं एतं बुद्धानुसासनं ।**

“करिबो पाप न कोउ संचिबो शुभ है जेतो,
करिबो चित्त निरोध बुद्ध अनुशासन एतो ।”

या विधि सेठन ने सारी कहि कथा सुनाई ।
यशोधरा ने भारी तिनकी करी बिदाई ।
कंचन रत्न भराय थार सम्मुख धरवायो ।
चलत चलत यह पूछन हित पुनि तिन्हैं बुलायो
“कौन मार्ग धरि केते दिन में ऐहै” प्यारे ?”
फिरि कै दोऊ सेठ बोलि यह बचन सिधारे—
“या पुर के प्राचीरन सेँ, हे देवि ! गुनत हम,
परत राजगृह नगर साठ योजन तें नहिं कम ।
आवत तहँ सेँ सुगम मार्ग करि पार पहारन,
सोन नदी के तीर तीर ह्वै कढ़त कछारन ।
चलत शकट के बैल हमारे आठ कोस नित,
एक मास में वाँ सेँ चलि कै आवत हैं इत ।”

परी नृप के कान में जब बात यह सब जाय
अश्वचालन में चतुर सामंत नौ बुलवाय
यह सँदेसो कहि पठायो अलग अलग सप्रीति—
“बिन तिहारे गए कलपत सात वत्सर बीति ।

रह्यो निशि दिन खोज में सब ओर दूत पठाय,
चिता पै अब चढ़न के दिन गए हैं नियराय ।
विनय यातें करत हैं अब बोलि बारंबार,
जहँ तिहारो सबै कछु तहँ आय जाव कुमार ।

राजपाट बिलात, तरसति प्रजा दरस न पाय ।
अतिथि थोरे दिनन को हौं, मुख दिखाओ आय ।”
नौ दूत छूटि यशोधरा की ओर सौं गे धाय
संदेस लै यह “राजकुल की रानि, राहुल-माय

मुख देखिबे के हित तिहारो परम व्याकुल छीन—
जैसे कुमुदिनी बाट जोहति चन्द्र की हूँ दीन;
जैसे अशोक विकाश हित निज रीति के अनुसार
पियराय जोहत रहत कोमल तरुणि-चरण-प्रहार ।

जो तज्यो वासोँ बढ़ि पदारथ मिलो जो कोउ होय,
है अवसि तामें भाग ताहू को; चहति है सोय ।”

तुरत शाक्य सामंत मगध की ओर सिधारे ।
पै पहुँचे वा समय वेणुवन बीच बेचारे
रहे धर्मउपदेश करत भगवान् बुद्ध जब ।
लगे सुनन ते, भूलि गए संदेस आदि सब ।
रह्यो ध्यान नहिँ महाराज को कछु मन माहीं
और कुँवर की रानी हूँ की सुधि कछु नाहीं ।
चित्रलिखे से रहे, सके नहिँ वचन उचारी;
रहे अचल अनिमेष दृष्टि सौं प्रभुहि निहारी ।
मति गति थिर हूँ गई सुनत प्रभु की शुभ बानी
ज्ञानदायिनी, ओजभरी, करुणारस-सानी ।

ज्यों खोजन आवास भ्रमर कोउ निकसत बाहर,
 लखत मालती फूल कहूँ छाए खिलि सुन्दर,
 औ पवनहुँ में मधुर महक तिनकी है पावत,
 आँधी पानी राति अँधेरी मनहि न लावत,
 बैठत विकसित कुसुमन पै तिन अवसि जाय कै,
 गहत मधुर मकरंदसुधा निज मुख गढ़ाय कै,
 त्यों पहुँचे ते सबै शाक्य सामंत तहाँ जब
 बुद्ध-वचन-पीयूष पान करि भूलि गए सब ;
 रह्यो चेत कछु नाहिँ कौन कारज सेाँ आए ।
 भिन्नसंघ में मिले जाय, नहिँ कछु कहि पाए ।

बीते जब बहु मास बहुरि नहिँ कोऊ आयो
 कालउदायी सचिवपुत्र को नृपति पठायो,
 बालसखा जो रह्यो कुँवर को अति सहकारी,
 जापै भूपति करत भरोसो सब सेाँ भारी ।
 पै सोऊ हूँ गयो भिन्न तहँ मूँड़ मुड़ाई,
 रहन लग्यो प्रभुसंघ माहिँ घरबार विहाई ।

एक दिवस ऋतु परम मनोहर रही सुहाई ;
 बोल्यो प्रभु के निकट जाय सो अवसर पाई—
 “हे भगवन् ! यह बात उठति मेरे मन माहीँ,
 एक ठौर को वास उचित भिन्न को नाहीँ ।

धूमि धूमि कै तिन्है^५ चाहिए धर्म प्रचारैं ।
भलो होय, प्रभु कपिलवस्तु की ओर पधारैं,
जहाँ भूप तव वृद्ध पिता तरसत दर्शन हित
औ राहुल की माता दुख सौ बिकल रहति नित ।”

बोले तब भगवान् बिहँसि सब की दिशि हेरी—
“अवसि जायहौ, धर्म और इच्छा यह मेरी ।
आदर में ना चूकै कोऊ मातुपिता के,
जो हैं जीवन देत, सकल साधन वश जाके,
जाको लहि नर चाहैं तो सो जतन सकत करि
जन्म मरण को बंधन जासों जाय सकल तरि ।
लहै चरम आनंदरूप निर्वाण अवसि नर
रहै धर्म के पालन में जो निरत निरंतर,
दहै पूर्व दुष्कर्म, तार हू तिनको तोरै,
हरुओ करतो जाय भार, पुनि और न जोरै,
होय प्रेम में पूर्ण दया दाक्षिण्य भाव भरि,
जीवन अपनो देय आप परहित अर्पित करि ।
महाराज के पास जाय यह देहु जनाई
आवत हौ आदेश तासु निज सीस चढ़ाई ।”
कपिलवस्तु में बात जाय जब पहुँची सारी,
अगवाई के हेतु कुँवर के सब नर नारी

अति उछाह सों करन लगे नाना आयोजन
भूलि सकल निज काम धाम, निद्रा औ भोजन ।

पुरदक्षिणद्वार के पास घनो
अति चित्र विचित्र वितान तनो;
जहँ तोरण खंभन पै, बिगसे
नव मंजु प्रसून के हार लसे ।

पट पाट के, कंचनतार भरे,
बहु रंग के चारहु ओर परे !
शुभ सोहत बंदनवार हरे,
घट मंगल द्रव्य सजाय धरे ।

पुर के सब पंकिल पंथ भए
जब चंदननीर सों सींचि गए ।
नव पल्लव आमन के लहरैं;
सुठि पाँति पताकन की फहरैं ।

नरपाल-निदेश सुन्यो सब ने—
पुरद्वार पै दंति रहैं कितने
सजि स्वर्ण वरंडक सों सिगारे
सित दंत चमाचम साम धरे;
धुनि धौसन की घहराय कहाँ,
सब लेयँ कुमारहिं जाय कहाँ,

(१८२)

कहँ बारबधू मिलि गान करै,
बरसाय प्रसून प्रमोद भरै;

पथ फूलन सोँ यहि भाँति भरै
जहँ पाँव कुमार-तुरंग धरै
धँसि टाप न तासु लखाय परै;
मिलि लोग सबै जयनाद करै ।

यहि भाँति नरेशनिदेश भयो,
सब के हिय माहिँ उछाह छयो ।
दिन ऊगत नित्य सबै अकनै
कहुँ आगम दुंदुभि बाजि भनै ।

धाय मिलन हित पियहि प्रथम धरि चाह अपार
गइ यशोधरा शिविका पै चढ़ि पुर के द्वार ।
जाके चहुँ दिशि लसत रम्य न्यग्रोधाराम,
जहँ सोहत बहु विटप बेलि वीरुध अभिराम ।
भूमति दोऊ ओर फूल फल सोँ भुकि डार;
हरियाली बिच घूमि घूमि पथ कढ़े सुधार ।
राजमार्ग चलि गयो धरे सोइ उपवन-छोर ।
परति अंत्यजन की बस्ती है दूजी ओर,
पुर-बाहर जे बसत बेचारे सब बिधि दीन,
छुअत जिन्हें द्विज नाहिँ मानि कै अतिशय हीन ।

तिनहूँ बीच उछाह नाहिँ थोरो दरसात,
 इत उत डोलन लगत सबै ज्यों होत प्रभात ।
 घंटन को रव, बाजन की धुनि कहूँ सुनि पाय
 लखत मार्ग में कढ़ि, पेड़न चढ़ि सीस उठाय ।
 पै जब आवत नाहिँ कतहुँ कोउ परै लखाय
 लगत भोपड़िन को सँवारिबे में पुनि जाय ।
 करत द्वार निज फेरि भ्रकाभ्रक भारि बहारि,
 पोँछि चौखटन, लीपि चौतरन, चौक सुधारि ।
 पुनि अशोक की लाय लहलही कोमल डार
 चुनि चुनि पल्लव गूँथत नूतन बंदनवार ।
 पूछत पथिकन सेँ निकसत जो वा मग जाय
 “कतहुँ सवारी रही कुँवर की या दिशि आय ?”
 यशोधरा हूँ चाह भरे चख तिनपै डारि
 पथिकन को उत्तर सुनती भुकि पंथ निहारि ।

मुंडी एक अचानक आवत पर्यो लखाय
 धारे वसन कषाय कंध पर सेँ लै जाय ।
 कबहुँ पसारत पात्र जाय दीनन के द्वार ;
 पावत लेत, न पावत लावत बढ़त न बार ।
 ताके पाछे रहे भिनु द्वै औरहु आय
 लिए कमंडल कर में, धारे वसन कषाय ।

पै जो तिनके आगे आवत धरि पथतीर
 ऐसी गौरवभरी तासु गति अति गंभीर,
 फूटति ऐसी दिव्य दीप्ति कढ़ि चारों ओर,
 ऐसो मृदुल पुनीत भाव दरसत दृगकोर
 भिच्चा लै जो देन बढ़त दोउ हाथ उठाय
 चित्र लिखे से चकित चाहि मुख रहत ठगाय ।
 कोऊ कोऊ धाय परत पायँन पै जाय ;
 फिरत लेन कछु और दीनता पै पछिताय ।
 धीरे धीरे लगे नारि, नर, बालक संग
 कानाफूसी करत परस्पर हैं कै दंग—
 “कहौ कौन यह ? कहौ, कछू आवत मन माहिँ ?
 ऋषि तो ऐसो परो लखाई अब लौँ नाहिँ ।”
 चलत चलत सो पहुँच्यो ज्यों मंडप नियराय
 खुल्यो पाटपट, यशोधरा चट पहुँची धाय ।
 ठाढ़ी पथ पै भई अमल मुखचंद्र उघारि
 “हे स्वामी ! हे आर्य्यपुत्र !” यह उठी पुकारि ।
 भरे विलोचन वारि, जोरि कर, सिसकि अधीर
 देखत देखत परी पायँ पै पथ के तीर ।

जब दीक्षित हैं चुकी धर्म में राजबधू वह
 एक शिष्य ने जाय करी प्रभु सौं शंका यह—

“सब रागन सौं रहित, वासना सकल निवारी,
 त्यागि कामिनी-परस कुसुमकोमल मनहारी
 यशोधरा को करन दियो प्रभु क्यों आलिंगन ?”

सुनत बुद्ध भगवान् वचन बोले प्रसन्न मन—

“महाप्रेम यों छोटे प्रेमान देत सहारो
 सहजहि ऊँचे जात ताहि लै दै पुचकारो ।

ध्यान रहै जो कोउ छूटि बंधन सौं जावै
 मुक्तिगर्व करि बद्ध जीव कबहूँ न दुखावै ।

समुझि लेहु यह मुक्ति लही है जाने, भाई !

एक बार ही नाहिँ कतहुँ काहू ने पाई ।

जन्म जन्म बहु जतन करत औ लहत ज्ञानबल
 आवत हैं जो चले, अंत में पावत यह फल ।

तीन कल्प लौं करि प्रयास अति प्रबल अखंडित
 बोधिसत्त्व है मुक्त होत जग की सहाय हित ।

प्रथम कल्प में होत ‘मनः प्रणिधान’ श्रेष्ठतर;

बुद्ध होन की जगति लालसा मन के भीतर ।

होत ‘वाक् प्रणिधान’ दूसरे कल्प माहिँ पुनि;

‘है जैहैं मैं बुद्ध’ कहत यह बात परत सुनि ।

लहत तीसरे कल्प माहिँ ‘विवरण’ पुनि जाई

“अवसि होहुगे बुद्ध” बुद्ध कोउ बोलत आई ॥३॥

*‘मनः प्रणिधान’ के उपरांत सर्वभद्रकल्प में जब गौतम धन्यदेशी
 म्राट् के पुत्र हुए तब उन्होंने कहा “मैं बुद्ध हूँगा” । सारमंद नाम

प्रथम कल्प में रह्यो ज्ञान शुभ मार्ग गुनत सब,
 पै आँखिन पै परदो मेरे परो रह्यो तब ।
 भयो न जाने किते लाख वर्षन को अंतर
 'राम' नाम को वैश्य रह्यो जब सागर तट पर,
 परति सामने स्वर्णभूमि दक्षिण दिशि जाके
 निकसत सीपिन सेँ मोती जहँ बाँके बाँके ।
 यशोधरा यह रही संगिनी तबहुँ हमारी,
 लक्ष्मी ताको नाम, रही ऐसिय सुकुमारी ।
 घर दरिद्र अति रह्यो, मोहिँ सुधि आवति सारी ।
 लाभ हेतु परदेस कढ़यो मै दशा निहारी ।
 लक्ष्मी तबहुँ आँसुन सेँ आँखें भरि लीनी;
 'विलग न मोसेँ होहु' बोलि यों बिनती कीनी—
 'जलथल पथ की विकट आपदा क्योँ सिर लैहौ ?
 चाहत एतो जाहि ताहि तजि कैसे जैहौ ?'
 पै मैं साहस सहित गयो चलि सागर पथ पर ।
 पथ के अंधड़ भेलि और श्रम करि अति दुष्कर,

तीसरे कल्प में वे पुष्पवती के राजा सुनंद के पुत्र हुए । इसी कल्प में उन्हें तृष्णांकर बुद्ध द्वारा 'अनियत विवरण' (अर्थात् तुम बुद्ध हो सकते हो) और दीपंकर बुद्ध द्वारा 'नियत विवरण' (अर्थात् तुम अवश्य बुद्ध होगे) प्राप्त हुआ । कहीं कहीं बोधिसत्व की तीन अवस्थाओं के नाम 'अभिनीहार' (बुद्धत्व की आकांक्षा), व्याकरण (किसी तथागत की भविष्यद्वाणी कि तुम बुद्ध होगे), और हलाहल (आनंदध्वनि) भी मिलते हैं ।

काहू बिधि जलजंतुन सेँ निज प्राण बचाई,
 घोर धूप औ निविड़ निशा की सहि कठिनाई,
 अवगाहत जल लह्यो एक मोती अति निर्मल
 पानी जासु अमोल, चंद्र सी.आभा उज्ज्वल;
 सकत जाहि लै केवल कोऊ भूपहि भारी
 रीतो करि निज कोष, द्रव्य निज सकल निकारी ।
 फिरि प्रसन्न मन, लख्यो ग्राम के गिरि नयनन भरि;
 किंतु घोर दुर्भिक्ष देश भर माहिं रह्यो परि ।
 पथ के कठिन परिश्रम सेँ हूँ चूर शिथिल अति,
 भूख प्यास सेँ विकल, मंद परि रही अंग गति ।
 पहुँच्यो काहू भाँति द्वार पै अपने जाई,
 सागर को सित रत्न फेंट में कसे छपाई ।
 एतो श्रम सब जाके हित मैं जाय उठायो
 ताको परी अचेत द्वार पै अपने पायो !
 भई कंठगत प्राण, सकति नहिं नयनन खोली,
 अन्न बिना मरि रही, कढ़ति नहिं मुख सेँ बोली ।
 कह्यो घूमि चिल्लाय 'अन्न कछु होय जासु घर
 एक जीव हित धरौ' राज को मोल तासु कर ।
 लक्ष्मी के मुख माहिं अन्न जो थोरो नावै
 चंद्रप्रभ यह रत्न आय मोसों लै जावै ।'
 अपनो अंतिम संचय लै इक पहुँच्यो सुनि यह ।
 तीन सेर बाजरो तौलि लै गयो रत्न वह

पर्यो प्राण तन, लै उसास लक्ष्मी बोली तब—
 'सत्य तिहारो प्रेम, त्याग लखि पर्यो मोहिं अब ।'
 मुक्ता जो वा पूर्व जन्म में मैंने पाई,
 भले काज में मैंने दीनी ताहि लगाई ।
 एक जीव के सुख हित दीनी सो छन माहीं
 देखी काहू भाँति और रक्षा जब नाहीं ।

औरहु गहरे धँसि अथाह में पाय बोधिबल
 लखो अंत में आति अलभ्य जो यह मुक्ताफल,
 सत्य धर्म 'द्वादश निदान' मय रत्न अनोखो,
 छीजि सकत नहिं, होत दिए सों औरहु चोखो ।
 गुनौ मेरु के आगे ज्यों वल्मीक पुरानो,
 जैसे वारिधि आगे तुम गोपदजल जानो
 तैसोई सो दान दान के आगे या मम
 जासों मंगल होय जीव को छूटै सब भ्रम ।
 ऐसोई यह प्रेम आज को बड़ो हमारो
 इंद्रिन के श्रमबंधन सों हूँ सब विधि न्यारो;
 नयो सहारो देन हेतु जो जीवहि निर्बल
 है महत्त्व यह याको; नहिँ कछु संशय को थल ।"
 यशोधरा यों पाय प्रेम को मृदुल सहारो
 बड़ी शांति-सुख-मार्ग ओर संशय तजि सारो ।

(१८९)

भूप ने जब सुन्यो कैसे आय पुर के द्वार
धरि उदासी वेष मूँड़ मुड़ाय राजकुमार
रह्यो नीचन द्वार भिन्ना हेतु कर फैलाय,
कोपपूरित छोभ छायो, गयो प्रेम भुलाय ।

श्वेत मूँछन ऐंठि बारंबार पीसत दाँत
कढ़्यो बाहर संग लै सामंत कंपित गात;
तमकि तीखे तुरग पै चढ़ि, रोष सहित निहारि,
चल्यो बीथिन बीच बढ़ि जहँ भरे पुरनरनारि ।

चकित चितवत रहि गए जे रहे वा मग जात;
कहन पायो काहु सों नहिँ कोउ एती बात
“अरे ! आवत महाराजधिराज देखत नहिँ ?”
राजदल कढ़ि गयो खम खम करत एते माहिँ ।

मुर्यो मंदिर पास सो जब पर्यो लखि पुरद्वार,
मिली आवति भूप को निज ओर भीर अपार,
लोग चारों ओर सों चलि मिलत जामें जात,
बढ़ति छिन छिन जाति जो, नहिँ कतहुँ पंथ लखात ।

भिन्नु सो लखि पर्यो जाके संग एती भीर ।
गयो कोप हिराय नृप को जबै वा पथ तीर

(१९०)

तासु व्याकुल वदन बुद्ध विलोकि मृदु टक लाय,
तेजपूरित विनय सेँ नै लियो दीठि नवाय ।

निज कुँवर को सो भाव भूपहि पर्यो अति प्रिय जानि
पहिचानि पूर्ण स्वरूप ताको और मन अनुमानि
भव विभव सेँ वढ़ि सकल तासु विभूति और प्रताप
येँ सहमि जासेँ चलत सँग सब शांति सेँ चुपचाप ।

नृप तदपि बोल्यो “कहा होनो रह्यो याही, हाय !
येँ दबे पाँयन कुँवर अपने राज ही में आय,
तन धारि कंथा फिरै माँगत भीख सब के द्वार
जहँ देवदुर्लभ रह्यो जीवन तासु या संसार ?

ऐश्वर्य यह, हे पुत्र ! सारो रह्यो तेरो दाय ।
तिन नृपन के वर वंश में तू जन्म लीनो आय
जे लहत कर-संकेत करि जो चहत भूतल माहिं,
आदेश-पालन माहिं जिनके कोउ चूकत नाहिं ।

धरि चहत आवन रह्यो तोहिं परिधान पद अनुसार
लै संग, भाले करत चम चम, चपलगति असवार ।
यह देखु ! डेरे डारि सैनिक परे सब पथतीर,
तोहि लेन आगे सेँ खड़ी पुरद्वार पै यह भीर ।

तू रह्यो एते दिनन लौं कहँ फिरत राजकुमार ?
दिन राति रोवत रह्यो ढोवत मुकुट को या भार ।
घर बैठि तेरी बधू विधवा सी दशा तन लाय
हँ रही दीन मलीन अति, सुखसाज सकल विहाय ।

नहिँ सुन्यो कबहुँ गीत वा मृदु बीन की झनकार,
नहिँ धर्यो तन पै कबहुँ सुंदर वसन एकहु बार,
आगमन सुनि बस आज धार्यो स्वर्णवस्त्र सजाय
निज भिक्षुपति सों मिलन हित, जो धरे वास कषाय ।

हे सुत ! कहौ, यह कहा ?” उत्तर दियो तब प्रभु हेरि
“हे तात ! यह कुलधर्म मेरो;” सुनि कह्यो नृप फेरि
“लै महासम्मत सों भए सौ भूप तव कुल माहिँ
पै कियो काहू ने कबहुँ तो काज ऐसो नाहिँ ।”

बोले प्रभु “कुलपरंपरा मर्त्यन की नाही,
पै बुद्धन के अवतारन की जुगजुग माही” ।
पहले हूँ मैं भए बुद्ध, आगे हूँ मैं हैं;
तिनहीं में से एक हमहुँ, हे तात ! कहैहैं ।
जो कछु वे करि गए कियो मैंने सोई अब,
जो कछु अब हँ रह्यो भयो पहले हूँ सो सब ।
नृपति एक धरि वर्म जाय निज पुर के द्वारन
मिल्यो पुत्र सों, धरे रह्यो जो भिक्षुवेष तन,

सत्य प्रेम संयम के बल जो अमित शक्तिधर,
 परम प्रतापी भूपालन सेाँ कतहुँ श्रेष्ठतर,
 सकल जगत् को करनहार उद्धार तथागत
 नायो जो निज सीस याहि विधि जैसे मैं नत ।
 समुक्ति पितृऋण औ लौकिक प्रेमहिं अपनाई
 पाई जो निधि तासु प्रथम फल सम्मुख लाई,
 चाह्यो अर्पित करन पिता को अति प्रसन्न मन,
 जैसे ह्याँ, हे तात ! आज मैं चाहत अर्पन ।”

“कौन सी निधि ?” नृपति पूछ्यो चाह सेाँ चकराय
 पकरि कर नरपाल को भगवान् तब हरखाय;
 चले बीथिन बीच भाखत शान्तिधर्मनिदान,
 ‘आर्य सत्य’ महान् जामेँ संपुटित सब ज्ञान ।

कह्यो पुनि ‘अष्टांग मार्ग’ बुझाय जाके बीच
 जो चहै सो चलै राजा रंक, द्विज औ नीच ।
 पुनि बताए मोक्ष के सोपान आठ उदार
 जिन्हें चाहैँ जो गहैं नर नारि या संसार—

मूर्ख, पंडित, बड़े, छोटे, युवा जरठ समान—
 छूटि या भवचक्र सेाँ यैँ लहैं पद निर्वान ।
 चलत पहुँचे जाय ते प्रासाद के अब द्वार ।
 नृपति नाहिँ अघात निरखत प्रभुहि बारंबार,

(१९३)

पीयूष से प्रिय वचन पुलकित पियत डोलत साथ
अति भक्ति सेँ भगवान् को लै पात्र अपने हाथ ।

यशोधरा के खुले नयन नव ज्योतिहि पाई,
सूखे आँसू आनन पै मृदु आभा छाई ।
या विधि वा शुभ रैन राजकुल बोलि बुद्ध जय
शान्ति मार्ग में चलि प्रवेश कीनो मंगलमय ।

अष्टम सर्ग

उपदेश

वा रोहिणी के तीर खँड़हर आज लौं फैलो परो
जहँ दूब सों छायो गयो बहु दूर लौं पटपर हरो ।
ईशान दिशि वाराणसी सों शकट चढ़ि जो जाइए
तो पाँच दिन को मार्ग चलि वा रम्य थल को पाइए,

लखि परत जहँ सों धवल हिमगिरिशृंग; जो फूलो फरो
है रहत बारह मास, सिंचित सरस बागन सों भरो;
जहँ लसत ढार मुढार, शीतल छाहँ मृदु सौरभ लिए ।
है अजहुँ भाव पुनीत बरसत ठौर वा जो जाइए ।

नित बहत सांध्य समीर है अति शांत झाड़न पै हरे
जहँ ढेर चित्रित पाथरन के दूह है कारे परे,
अश्वत्थ जिनको भेदि फैले मूलजाल बिछाय कै,
जो लसत चारो ओर तृणदल-तरल-पट सों छाय कै ।

कढ़ि कतहुँ कारुज काठ के बहु साज सों जो नसि धँसो ।
चुपचाप फेंटी मारि कारो नाग फलकन पै बसो ।

(१९५)

आँगनन में जिन नृपति टहरत फिरत गिरगिट हैं तहाँ
अब स्यार वेदी तर बसत तहँ सजत सिंहासन जहाँ ।

बस शृंग, सरित, कछार और समीर ज्यों के त्यों रहे
नसि और सब शोभा गई, वे दृश्य जीवन के बहे ।
नृप शाक्य शुद्धोदन बसत ह्याँ राजधानी यह रही ।
भगवान् जहँ उपदेश भाख्यो एक दिन सो थल यही ।

पूर्व काल में कवहुँ रह्यो यह थल अति सुंदर ।
याके चहुँ दिशि लसत रम्य आराम मनोहर ।
बाटैं बिच बिच कटी^०; सेतु नारिन पै सोहत,
चलत रहत जलयंत्र, सरोवर जनमन मोहत ।
पाटल के परिमंडल भीतर चमकत चत्वर ।
लसत अनेक अलिंद, खंभ बहु सोहत सुंदर ।
इत उत तोरण राजभवन के कहुँ बढ़ि आए ।
चमकत जिनके कलश दूर सौँ रविकर पाए ।
याही थल भगवान् एक दिन बैठे आई;
भक्ति भाव सौँ घेरि लोग प्रभु दिशि टक लाई
जोहत मुख सुनिबे को वाणी ज्ञान भरी अति,
जाको लहि जग शांत वृत्ति गहि तजी क्रूर मति;
नर पंचाशत् कोटि आज लौं जाके अनुगत,
काटन हित भवपाश आस करि होत धर्मरत ।

बीच में भगवान् सोहत शाक्य भूपति तीर ।
घेरि चारो ओर सौं सामंत बैठे धीर—
देवदत्त अनंद आदिक सभा के सब लोग
धर्मदीक्षा पाय दीनो 'संघ' में जो योग ।

मौद्गलायन सारिपुत्रहु बसे प्रभु पश्चात्
'संघ' माहिँ प्रधान सब सौं शिष्य जे कहि जात ।
रह्यो राहुल हूँ हंसतमुख गहे प्रभु-पट-कोर,
बाल चख सौं चकित चितवत भव्य मुख की ओर ।

चरण ढिग भगवान् के बसि रही गोपा जाय;
आज तन-मन-पीर ताकी गई सकल नसाय ।
भयो साँचे प्रेम को वा बोध अंतस् माहिँ
क्षणिक इंद्रियवेग पै अवलंब जाको नाहिँ ।

भयो भासित नयो जीवन जरा जाहि न खाति
और अंतिम मृत्यु जासौं मृत्यु ही मरि जाति ।
भई भागिनि या विजय की सोउ प्रभु के संग
मानि आपहि धन्य फूलि समाति ना निज अंग ।

भगवान् के काषाय पट को छोरि सिर पै डारि,
शुचि वाम कर पै तासु सादर रही निज कर धारि ।

निकटस्थ अति या भाँति ताकी परति सो दरसाय
त्रैलोक्य वाणी जासु जोहत रह्यो अति अकुलाय ।

भगवान् के मुख सेँ कढ़्यो जो ज्ञान परम नवीन
कहि सकौँ तासु शतांश हू मैँ नाहिँ अति मतिहीन ।
या काल में बसि बात सब मैँ सकौँ कैसे जानि ?
हिय धरौँ बस कछु भक्ति प्रभु के प्रेम को पहिचानि ।

आचार्यगण जो लिखि गए प्राचीन पोथिन माहिं
हौँ कहौँ तासेँ बड़ि कछू सामर्थ्य एती नाहिं ।
भगवान् ने जो दियो वा उपदेश को कछु सार
जो कछू थोरो बहुत जानत कहत मति अनुसार ।

उपदेश केते सुनन आए करै गिनती कौन ?
प्रत्यक्ष जे लखि परे तहँ बसि सुनत धारे मौन
कहुँ रहे तिनसें लाख और करोगुन अधिकाय ।
सब देव पितर अदृश्य ह्वै तहँ रहे भीर लगाय ।

सब लोक ऊपर के भए सूने निपट वा काल ।
छुटि नरक हू के जीव आए तोरि साँसति-जाल ।
बिलमी रही बड़ि अवधि सेँ रविज्योति परम ललाम
अनुराग सेँ अति भाँकते गिरिशृंग पै अभिराम ।

रैन मानो घाटिन में, बासर पहारन पै,
ठमकि सुनत बानी प्रभु की सुधाभरी ।
बीच में सलोनी साँझ अप्सरा सो मानो कोउ,
मति गति खोय थकी मोहित सी जो खरी ।
छिटके घुवा से घन कुंतलकलाप मानो,
तारावलि मोतिन की लरी बिखरी परी ।
अर्द्धचंद्र सोइ मानो बेंदी बिलसति भाल,
तम को पसार मानो नील सारी पातरी ।

सुरभित मंद मंद बहत समीर, सोइ
मानो थामि थामि साँस छाँड़ति विसारि गात ।
सुंदर समय पाय बसि याही ठौर शुचि
करि रहे प्रभु उपदेश अति अवदात ।
जाने जाने सुने जाने सुने अनजाने सब—
ऊँच, नीच, आर्य, म्लेच्छ, कोल, भील औ किरात—
परति सुनाय तिन्हें बोलिन में निज निज
भाखत जो जात भगवान् ज्ञानभरी बात ।

नर, देव, पितरन की कहा जो रहे भीर लगाय
सब, कीट, खग, मृग आदि हू को परत कछुक जनाय
वा प्रेम को आभास जो प्रभु हृदय माहिं अपार ।
बँधि रही आशा तिन्हें प्रभु के वचन के अनुसार ।

(१९९)

जे बँधे सारे जीव नाना रूप देहन संग—
वृक, बाघ, मर्कट, भालु, जंबुक, श्वान, मृग सारंग,
बहु रत्नमंडित मोर, मोतीचूर-नयन कपोत,
सित कंक, कारे काग आमिष भोज जिनको होत,

अति प्लवनपटु मंडूक, गिरगिट, गोह, चित्र भुजंग,
ऋष चपल उद्धरत भल्लकि जो छलकाय सलिलतरंग,
सब जोरि नातो मनुज सौँ, जो शुद्ध तिन सम नाहिँ,
अब कटन बंधन चहत गुनि यह मुदित हैँ मन माहिँ ।

नृप को सुनाय सब धर्मसार
उपदेश कियो प्रभु या प्रकार—

जैँ अमितायु !

अप्रमेय को न शब्द बाँधि कै बताइए,
जो अथाह ताहि यौँ न बुद्धि सौँ थहाइए ।
ताहि पूछि औ बताय लोग भूल ही करैँ ;
सो प्रसंग लाय व्यर्थ वाद माहिँ ते परैँ ।

अंधकार आदि में रह्यो पुराण यौँ कहै,
वा महानिशा अखंड बीच ब्रह्म ही रहै ।

फेर में न ब्रह्म के, न आदि के रहौ, अरे !
चर्मचक्षु को अगम्य और बुद्धि के परे ।

देखि आँखिन सों न सकिहै कोउ काहु प्रकार
औ न मन दौराय पैहै भेद खोजनहार ।
उठत जैहैं चले पट पै पट, न ह्वैहै अंत ;
मिलत जैहैं परे पट पै पट अपार अनंत ।

चलत तारे रहत पूछन जात यह सब नाहिँ ।
लेहु एतो जानि बस-हैं चलत या जग माहिँ
सदा जीवन मरण, सुख दुख, शोक और उछाह,
कार्य कारण की लरी औ कालचक्र-प्रवाह,

और यह भवधर जो अविराम चलति लखाति,
दूर उद्गम सों सरित चलि सिन्धु दिशि ज्यों जाति;
एक पाछे एक उठति तरंग तार लगाय,
एक हैं सब, एक सी पै परति नाहिँ लखाय ।

तरणिकर लहि सोइ लुप्त तरंग पुनि कहूँ जाय
घुवा से घन की घटा ह्वै गगन में घहराय,
आर्द्र ह्वै नगशृङ्ग पै पुनि परति धारासार;
सोइ धार तरंग पुनि-नहिँ थमत यह व्यापार ।

(२०१)

जानिबो एतो बहुत—भू स्वर्ग आदिक धाम
सकल माया दृश्य हैं, सब रूप हैं परिणाम ।
रहत घूमत चक्र यह श्रमदुःखपूर्ण अपार,
थामि जाको सकत कोऊ नाहिँ काहु प्रकार ।

बंदना जनि करौ, ह्वै है कछु न वा तम माहिँ;
शून्य सों कछु याचना जनि करौ, सुनिहै नाहिँ ।
मरौ जनि पचि और हू मन ताप आप बढ़ाय
क्लेश नाना भाँति के दै व्यर्थ तनहिँ तपाय ।

चहौ कछु असमर्थ देवन सों न भेंट चढ़ाय
स्तवन करि बहु भाँति, बेदिन बीच रक्त बहाय ।
आप अ'तस् माहिँ खोजौ मुक्ति को तुम द्वार ।
तुम बनावत आप अपने हेतु कारागार ।

शक्ति तुम्हरे हाथ देवन सों कछू कम नाहिँ ।
देव, नर, पशु आदि जेते जीव लोकन माहिँ
कर्मवश सब रहत भरमत बहत यह भवभार,
लहत सुख औ सहत दुख निज कर्म के अनुसार ।

गयो जो ह्वै, वाहि सों उत्पन्न जो अब होत,
होयहै जो खरो खोटो सोड ताको गोत ।

देवगण जो करत नंदनवन वसंत-विहार
पूर्वपुण्य पुनीत को फल कर्मविधि अनुसार ।

प्रेत है जो फिरत अथवा नरक में बिललात
भोग सों दुष्कर्म को क्षय ते करत हैं जात ।
क्षणिक है सब—पुण्यबल हू अंत छोड़त जाय ।
पाप हू फलभोग सों है सकल जात नसाय ।

रह्यो जो अति दीन श्रम सों पेट पालत दास
पुण्यबल सों भूष है सो करत विविध विलास ।
है परी वा बनि परी नहिँ बात ताके हेत
रह्यो नृप जो, भीख हित सो फिरत फेरी देत ।

चलत जात अलक्ष्य जौ लैं चक्र यह अविराम
कहाँ थिरता शांति तौ लैं औ कहाँ विश्राम ?
चढ़त जो सो गिरत औ जो गिरत सो चढ़ि जात ।
रहत घूमत और थमत न एक छन, हे आत !

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

बँधे चक्र में रहौ मुक्ति को मार्ग न पाई
हैं न सकत यह—अखिल सत्त्व नहिँ ऐसो, भाई !

नित्य बद्ध तुम नाहिं बात यह निश्चय धारो,
 सब दुःखन सों सबल, भ्रात ! संकल्प तिहारो ।
 दृढ़ हूँ कै जो चलौ, भलो जो कछु बनि ऐहै
 क्रम क्रम सों सो और भलोई होतहि जैहै ।
 सब बंधुन की आँसुन में निज आँसु मिलाई
 हौं हूँ रोवत रह्यो कबहुँ जैसे तुम, भाई !
 फाटत मेरो हियो रह्यो लखि जगदुख भारी;
 हँसैँ आज सानंद बुद्ध हूँ बंधन टारी ।
 'मुक्तिमार्ग है' सुनौ मरत जो दुख के मारे !
 अपने हित तुम आपहि दुख बिढ़वत हौ सारे ।
 और कोउ नहिं जन्म मरण में तुम्हें बभावत,
 और कोउ नहिं बाँधि चक्र में तुम्हें नचावत,
 काहू के आदेश सों न भेंटत हौ पुनि पुनि
 तापआर औ अश्रुनेमि औ असत्-नाभि चुनि ।
 सत्य मार्ग अब तुम्हें बतावत हौ अति सुंदर ।
 स्वर्ग नरक सों दूर, नछत्रन सों सब ऊपर
 ब्रह्मलोक ते परे सनातन शक्ति विराजति
 जो या जग में 'धर्म' नाम सों आवति बाजति,
 आदि अंत नहिं जासु, नियम हैं जाके अविचल
 सत्वोन्मुख जो करति सर्गगति संचित करि फल

परस तासु प्रफुल्ल पाटल माहिं परत लखाय,
सुघर कर सौं तासु सरसिज-दल कढ़त छवि पाय ।
पैठि माटी बीच बीजन में बगारि चुपचाप
नवल वसन वसंत को सो बिनति आपहि आप ।

कला ताकी करति है घनपुंज रंजित जाय ।
चंद्रिकन पै मोर की दुति ताहि की दरसाय ।
नखत ग्रह में सोइ; ताही को करै उपचार
दमकि दामिनि, बहि पवन औ मेघ दै जलधार ।

घोर तम सौं सृज्यो मानव हृदय परम महान् ,
बुद्ध अंडन में करति कलकंठ को सुविधान ।
क्रिया में निज सदा तत्पर रहति, मारग हेरि
काल को जो ध्वंस ताको करति सुंदर फेरि ।

तासु वर्तुल निधि रखावत चाष नीड़न जाय
छात में छः पहल मधुपुट पूर्ण तासु लखाय ।
चलति चींटी सदा ताके मार्ग को पहिचानि;
और श्वेत कपोत हू हैं उड़त ताको जानि ।

गरुड़ सावज लै फिरत घर बेग सौं जा काल
शक्ति सोई है पसारति तासु पंख विशाल ।

है पठावति वृकजननि को सोइ शावक पास ।
चहत जिन्हें न कोउ तिनको करति सोइ सुपास ।

नाहिँ कुंठित होति कैसहु करन में व्यवहार;
होत जो कछु जहाँ सो सब तासु रुचि अनुसार ।
भरति जननिउरोज में जो मधुर छीर रसाल
धरति सोई व्यालदशनन बीच गरल कराल ।

गगनमंडप बीच सोई ग्रह नछत्र सजाय
बाँधि गति, सुर ताल पै निज रही नाच नचाय ।
सोइ गहरे खात में भूगर्भ भीतर जाय
स्वर्ण, मानिक, नीलमणि की राशि धरति छपाय ।

हरित वन के बीच उरभी रहति सो दिन राति,
जतन करि करि रहति खोलति निहित नाना भाँति ।
शालतरु तर पोसि बीजन और अंकुर फोरि
कांड, कौपल, कुसुम विरचति जुगति सौं निज जोरि ।

सोइ भच्छति, सोइ रच्छति, बधति, लेति बचाय ।
फलविधानहिँ छाँड़ि औ कछु करन सो नहिँ जाय ।
प्रेम जीवन सूत ताके जिन्हें तानति आप;
तासु पाई और ढरकी हैं मरण औ ताप ।

सो बनावति औ बिगारति सब सुधारति जाय ।
रह्यो जो, तासेँ भलो है बन्यो जो अब आय ।
चलत करतब भरो ताको हाथ यों बहु काल
जाय कै तब कतहुँ उतरत कोउ चोखो माल ।

कार्य हैं ये तासु गोचर होत जो जग माहिँ ।
और केती हैं अगोचर वस्तु गिनती नाहिँ ।
नरन के संकल्प, तिनके हृदय, बुद्धि, विचार
धर्म के या नियम सेँ हैं बँधे पूर्ण प्रकार ।

अलख करति सहाय, साँचो देति है करदान ।
करति अश्रुत घोष घन की गरज सेँ बलवान ।
मनुज ही की बाँट में हैं दया प्रेम अनूप;
युगन की बहु रगर सहि जड़ ने लह्यो नररूप ।

शक्ति की अवहेलना जो करै ताकी भूल ।
विमुख खोवत, लहत सो जो चलत हैं अनुकूल ।
निहित पुण्यहि सेँ निकासति शांति, सुख, आनंद ।
छपे पापहि सेँ प्रगट सो करति है दुखद्वंद ।

आँखि ताकी रहति है नहिँ रहै चाहै और;
सदा देखति रहति जो कछु होत है जा ठौर ।

करौ जेतो भलो तेतो लहौ फल अभिराम ।
करौ खोटो नेकु ताको लेहु कटु परिणाम ।

क्रोध कैसो ? क्षमा कैसी ? शक्ति करति न मान
ठीक काँटे पै तुले सब होत तासु विधान ।
काल की नहिं बात; चाहे आज अथवा कालि
देति प्रतिफल अवसि सो निज नियम अविचल पालि ।

याहि विधि अनुसार घातक मरत आपहि मारि,
क्रूर शासक खोय अपनो राज बैठत हारि,
अनृतवादिनि जीभ जड़ हूँ रहति बात न पाय,
चोर ठग हैं हरत धन पै भरत दूनो जाय ।

रहति शक्ति प्रवृत्त सत् की लीक थापन माहिँ ;
थामि अथवा फेरि ताको सकत कोऊ नाहिँ ।
पूर्णता औ शांति ताको लक्ष्य, प्रेमहि सार ।
उचित है, हे बन्धु ! चलिबो ताहि के अनुसार ।



कहत हैं सब शास्त्र कैसी खरी चोखी बात—
होत जो या जन्म में सब पूर्व को फल, भ्रात !

(२०८)

पूर्व पापन सों कढ़त हैं शोक, दुःख, विषाद ।
होत जो सुख आज सो सब पूर्व-पुण्य-प्रसाद ।

बवत जो सो लुनत सब; वह लखौ खेत दिखात
अन्न सों जहँ अन्न उपजत, तिलन सों तिल, भ्रात !
महाशून्य अपार परखत रहत सब संसार ।
मनुज को है भाग्य निर्मित होत याहि प्रकार ।

बयो पहले जन्म में जो अन्न तिल बगराय
सोइ काटन फेरि आवत जीव जन्महिं पाय ।
बेर और बबूर, कंटक भाड़, विष की बेलि
गयो जो कछु रोपि सो लहि मरत पुनि दुख भेलि ।

किन्तु तिनको जो उखारै लाय उचित उपाय
और तिनके ठौर नीके बीज रोपत जाय
स्वच्छ, सुन्दर, लहलही ह्वै जायहै भू फेरि,
प्रचुर राशि बटोरि सो सुख पायहै पुनि हेरि ।

पाय जीवन लखै जो दुख कढ़त कित सों आय,
सहै पुनि धरि धीर तन पै परत जो कछु जाय;
पाप को वा कियो जो सब पूर्व जीवन माहिँ
सत्य सम्मुख दंड पूरो भरै, हारै नाहिँ,

(२०९)

अहंभाव निकासि होवै निखरि निर्मलकाय;
स्वार्थ सों नहिँ तासु रंचक काहु को कछु जाय ;
नम्र हूँ सब सहै; कोऊ करै यदि अपकार
पाय अवसर करै ताको बनै जो उपकार;

होत दिन दिन जाय सो यदि सदय, पावन, धीर,
न्यायनिष्ठ, सुशील, साँचो, नम्र औ गंभीर;
जाय तृष्णा को उखारत मूल प्रति छन माहिँ
होय जीवन-वासना को नाश जौ लौँ नाहिँ ;

मरे पै तब तासु रहिहै अशुभ को नहिँ चूर ;
जन्म को लेखो सकल चुकि जायहै भरपूर ;
जायहै शुभ मात्र रहि हूँ सबल बाधा हीन ;
पाय फल सो परम मंगल माहिँ हूँ है लीन ।

जाहि जीवन कहत तुम सो नाहिँ पैहै फेरि ।
लगो जो कछु चलो आवत रह्यो वाको धेरि
गयो चुकि सो ; भयो पूरो लक्ष्य सो गंभीर
मिलो जाके हेतु वाको रह्यो मनुज-शरीर ।

नाहिँ ताहि सतायहै पुनि वासना को जाल
और किल्विष हूँ कलंक लगायहै नहिँ भाल ।

जगत् के सुख दुख न सो चिर शांति करिहैं भंग,
जन्म मरण न लागिहै पुनि और ताके संग ।

पायहै सो परम पद निर्वाण पूर्ण प्रकार;
नित्य जीवन माहिँ मिलिहै होय जीवन पार;
होयहै निःशेष है सो धन्य, भ्रमिहै नाहिँ—
जाय मिलिहै ओसबिंदु अनंत अंबुधि माहिँ ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

ओं मणिपद्मे हुं

कर्म को सिद्धांत है यह, लेहु याको जानि ।
पाप के सब पुंज की है जाति है जब हानि,
जात जीवन जबै सारो लौ समान बुताय
तबै ताके संग ही यह मृत्यु हू मरि जाय ।

‘हम रहे’, ‘हम हैं’, ‘होयेंगे हम’ कहौ जनि यह बात ;
समझौ न पथिकन सरिस पल के घरन में बहु, भ्रात !
तुम एक छाँड़त गहत दूजो करत आवत बास
सुधि राखि अथवा भूलि जो कछु होत दुःख सुपास ।

ॐ रहि जात है कछु नाहिँ प्राणी मरत है जा काल ;
 चैतन्य अथवा आत्मा नसि जात है ज्यों ज्वाल ।
 रहि जात केवल कर्म ही हैं शेष विविध प्रकार ;
 बहु खंड तिनसेँ लहत उद्भव जन्म जोरनहार ।

जग माहिँ तिनको योग प्रगटत जीव एक नवीन ;
 सो आप अपने हेतु घर रचि होत वामें लीन ।
 ज्यों पाटवारो कीट आपहि सूत कातत जाय
 पुनि आप वामें बसत है जो लेत कोश बनाय ।

सो गहत भौतिक सत्त्व औ गुण आपही रचि जाल—
 ज्यों फूटि विषधर-अंड केँ चुर दंष्ट्र गहत कराल ;
 ज्यों पक्षधर शरबीज घूमत उड़त नाना ठौर,
 लहि वारितट कहुँ बढ़त, फेंकत पात, धारत मौर ।

* इसके पहले के पद्य में बौद्धों के जिस दार्शनिक मत का आभास है उसे स्पष्ट करने के लिये यह पद्य अपनी ओर से जोड़ा गया है । बौद्ध लोग आत्मा को नश्वर मानते हैं; उसे अमर नहीं मानते । इससे कर्मवाद को विलक्षण रीति से उन्होंने अपने मत के अनुकूल किया है । प्राणी की मृत्यु होने पर उसके सब खंड—आत्मा आदि सब—नष्ट हो जाते हैं; केवल कर्म शेष रह जाते हैं जिनसे फिर नए नए खंडों की योजना होती है और एक नया प्राणी उत्पन्न होता है । पिछले प्राणी के साथ इस नए प्राणी का कर्मसूत्रसंबंध रहता है, इससे दोनों को एक ही प्राणी कह सकते हैं ।

या नए जीवन की प्रगति शुभ अशुभ दिशि लै जाय ।

जब हनत काल कराल पुनि निज क्रूर करहि उठाय
रहि जात तब वा जीव को जो शेष शुद्धिविहीन
सो फेरि भ्रमावात भेलत सहत ताप नवीन ।

पै मरत है जब जीव कोऊ पुण्यवान् सुधीर
बढ़ि जाति जग की संपदा कछु, बहत सुखद समीर ।
मरु भूमि की ज्यों धार बालू बीच जाति बिलाय
है शुद्ध निर्मल फेरि चमकति कढ़ति है कहूँ जाय ।

या भाँति अर्जित पुण्य अर्जित करत है शुभकाल ;
यदि पाप ताको देत बाधा रुकति ताकी चाल ।
पै धर्म सबके रहत ऊपर सदा या जग माहिँ ;
कल्पांत लौं विधि चलति ताकी, कबहुँ चूकति नाहिँ ।

तम ही तुम्हैं भव बीच डारत है अविद्या छाय,
तुम जाल में परि जासु भूठे दृश्य सत् ठहराय
हौ करत वृष्णा लहन की, औ लहि तिन्हैं फँसि जात
बहु रूप रागन माहिँ जो हैं करत तुमसों घात ।

जे 'मध्यमा प्रतिपदा'* को गहि होन चाहैं पार—
पथ जासु प्रज्ञा खोजि काढ़ति, शांति करति सुधार—

* कामसुख आदि विषयों का सेवन आर शरीर को क्लेश देना
इन दोनों अर्थों का त्याग और मध्यम मार्ग का ग्रहण ।

निर्वाणपथ की ओर चाहैं चलन जे चित लाय
ते सुनै, अब हौ कहत चारो 'आर्य सत्य' बुझाय ।

प्रथम तो है 'दुःख सत्य' न तुम्हैं जासु बिचार,
परम प्रिय जीवन तुम्हैं सो दीर्घ दुख को भार ।
क्लेश ही रहि जात है, सुख परत नाहिँ जनाय,
आय पंछी से कबहुँ उड़ि जात भलक दिखाय ।

जातिदुःख अपार, शैशव दशा को दुख घोर,
दुःख यौवन ताप को, श्रमदुःख फेरि कठोर,
दुःख दारुण जरा को, पुनि मरणदुःख कराल,
दुःख में या भाँति सिगरो जात जीवनकाल ।

प्रेम है अति मधुर; पै सो अधर जो न अघात
और परिरंभित पयोधर लपट सौँ लपटात ।
अवसि संगरशूरता अति परति भव्य लखाय,
किंतु वीर नरेंद्र के भुज गीध नोचत जाय ।

लसति सुन्दर वसुमती, पै लखौ नयन उठाय
एक एकहि हतन की कत रहत घात लगाय !
लगत नीलम सरिस नभ, पै देत बूँद न डारि
अन्न बिनु जब लोग व्याकुल मरत त्राहि पुकारि ।

व्याधि सेँ वा शोक सेँ जे विकल औ बिललात,
टेकि लाठी लुढ़त परिजनत्यक्त जे नतगात,
लगत जीवन तिन्हें कैसो नेक पूछौ जाय;
कहत ते “शिशु विज्ञ, रोवत जन्म जो यह पाय ।”

‘दुःख समुदय’ सत्य दूजो धारियो मन माहिँ ।
कौन ऐसो क्लेश तृष्णा सेँ कढ़त जो नाहिँ ?
आयतन औ स्पर्श॥ बहु विधि मिलत हैं जब जाय
कामतृष्णा आदि की तब ज्वाल देत जगाय ।

जगति तृष्णा काम की, भव विभव की या भाँति ।
स्वप्न में तुम रहत भूले, गहत छायापाँति ।
अहं को आरोप तिनके बीच करत भुलाय,
जगत् ठाढ़ो करत तासु प्रतीति यौँ उपजाय ।

लखत तासेँ परे नहिँ औ सुनत नहिँ तुम, भ्रात !
मधुर स्वर जो इन्द्रलोकहु सेँ परे लहरात ।
‘असत् को तजि सत्य जीवन गहौ सहित विवेक’
धर्म की या हाँक पै तुम कान देत न नेक ।

॥बौद्ध शास्त्रों में मन सहित पाँच इन्द्रियों के समूह को षडायतन
और विषयों को स्पर्श कहते हैं ।

विभवतृष्णा देति या भू बीच कलह पसारि ।
करत बिलखि विलाप वंचित दीन आँसू ढारि ।
काम, क्रोध लखात ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, घात ।
रक्त में सनि वर्ष पाछे वर्ष धावत जात ।

जहाँ चाहत रह्यो उपजै अन्न सुख सरसाय
फैलि कलियारी तहाँ विषमूल रही बिछाय,
क्रूर कटुता सेँ भरे निज फूल रही दिखाय ।
जहाँ नीके बीज जामै^५ ठौर सो न लखाय ।

माति विष सेँ जात जग सेँ जीव त्यागि शरीर
तृषा-आतुर फेरि लौटत कर्मधारा तीर ।
आयतनगत, कर्मबीजन सेँ सनो, श्रमलीन
चलत है पुनि अहं, माया मिलति और नवान ।

सत्य 'दुःखनिरोध' नामक तीसरो है, भ्रात !
विजय तृष्णा पै लहै करि सकल रागनिपात ।
मूलबद्ध कुवासना मन सेँ समस्त उखारि
करै अंतस के उपद्रव शांत धीरज धारि ।

प्रेम याही—नित्य सुषमा हेरि तन मन देय;
और यहै प्रताप—आपहिं जीति बश करि लेय;

(२१६)

यहै अति आनन्द—देवन सों परे हूँ जाय;
अतुल संपति यहै—राखै नित्य निधिहि जुटाय ।

नित्य निधि यह जुरति कीने दया औ उपकार,
दान, मृदुता, मधुर भाषण, और शुचि व्यवहार ।
अछय धन यह जाय जोरत सदा जीवन माहिं,
लोक में परलोक में कहूँ छीजिहै जो नाहिँ ।

दुःख को यों अंत हूँ है आपही वा काल
जन्म को औ मरण को जब छूटिहै जंजाल ।
जायहै चुकि तेल उठिहै दीप लौ किहि भाँति ?
जायहै रहि बस अनालय मुक्ति की शुभ शांति ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

‘मार्ग’ नाम को ‘आर्य्य सत्य’ अब चौथो आवै,
सब के चलिबे जोग सुगम जो पंथ सुहावै ।
सुनौ ‘आर्य्य अष्टांग मार्ग’ यह है अति सुंदर
सूधो जो चलि गयो शांति की ओर निरंतर ।
गए विविध पथ हिममंडित वा शुभ्र शिखर तन
जाके चहुँ दिशि लसत स्वर्णरंजित कुंचित घन ।
अति सुठार वा अति कुठार पथ गहि, हे भाई !
शांतिधाम के बीच पथिक पहुँचत वा जाई ।

सबल सकत करि पार विकट गिरिसंकट चटपट
 कूदत फाँदत, गिरत परत गहि मारग अटपट ।
 जे निर्बल ते पथ सुठार गहि चढ़ैं सँभारत,
 बीच बीच में टिकत और बहु फेरो डारत ।
 ऐसो है 'अष्टांग मार्ग' यह अति उजियारो,
 शांति धाम के बीच अंत पहुँचावनहारो ।
 दृढ़ संयम संकल्प होत हैं जिनके, भाई !
 पहुँचि जात ते जीव शीघ्र चढ़ि खड़ी चढ़ाई ।
 पै निर्बल हू धीरे धीरे आशा धारे
 चलत रहत यदि पहुँचि जात कबहूँ बेचारे ।

पहलो 'सम्यक् दृष्टि' अंग या मारग केरो ।
 राखि धर्मभय चलौ, पाप सेँ करौ निबेरो ।
 मानौ कर्महि सार भाग्य उपजावनहारो ।
 इंद्रिन को वश राखि विषयवासना निवारो ।
 पुनि 'सम्यक् संकल्प' दूसरो अंग सुहावै ।
 सब जीवन को हित चित सेँ ना कबहूँ जावै ।
 क्रोध लोभ करि दमन, क्रूरता मारौ सारी ;
 मृदु समीर सी जीवनगति ह्वै जाय तुम्हारी ।
 'सम्यक् वाचा' अंग तीसरो मन में धारौ ;
 भीतर राजा बसत अधरपट समझि उधारौ ।

मुख सेाँ बाहर कढ़ें शब्द जो कबहुँ तुम्हारे
 शांत, मधुर, प्रिय औ विनीत ते होवें सारे ।
 पुनि 'सम्यक् कर्मांत' अंग चौथो जो लैहौ
 साधत साधत सुकृत कर्मक्षय-भारग पैहौ ।
 क्रिया तुम्हारी होयँ जगत् में जेती सारी
 शुभ को बाढ़न देयँ, अशुभ को देयँ उखारी ।
 फटिक-पोत के बीच स्वर्णगुण भलकत जैसे
 शुभ कर्मन बिच प्रेम तुम्हारो भलकै तैसे ।
 पुनि 'सम्यक् आजीव' पाँचवों अंग कहावै ;
 करौ जीविका क्लेश नाहिँ कोउ जासेँ पावै ।
 गहि 'सम्यक् व्यायाम' शिथिलता दूर हटाओ
 करौ उचित श्रम तन मन में जनि आलस लाओ ।
 'सम्यक् स्मृति' बिनु ज्ञान सकत नहिँ थिरता पाई ;
 धारौगे जो आज जायगो कालि पराई ।
 सात अंग ये साधि लहत 'सम्यक् समाधि' नर ;
 सुख दुख दोऊ माहिँ अचंचल रहत निरंतर ।
 यों सम वृत्तिहि पाय चित्त एकाग्र लगावत
 जो जो मुक्ति उपाय तिन्हें सब गुनत यथावत्

शक्ति प्राप्त बिनु किए उड़ौ ना ऊपर धाई
 नीचे ही सेाँ चलौ कर्म साधत सब, भाई !

जो थल जानो सुनो प्रथम बाही को धरिए ।
 शक्ति प्राप्त जब होय गमन ऊपर को करिए ।
 अति प्रिय पुत्र कलत्र होत यह लेहु विचारी ।
 बहु आहार विहार, सखा कैसे सुखकारी !
 दान दया हैं सुंदर फल उपजावनहारे ।
 जमे चित्त में यदपि तदपि भय भूठे सारे ।
 ऐसो जीवन गहौ होयहै मंगलकारी ।
 दलि पायँन तर पाप रचौ सोपान सँवारी ।
 माया के बिच पंथ निकासत अपनो सुंदर
 बढ़त जाव तुम सत्य धर्म की ओर निरंतर ।
 या विधि ऊँची भूमिन पै तुम कढ़त जायहौ,
 पापभार निज हरुओ औ गति सुगम पायहौ ।
 होत जायहै दृढ़तर यों संकल्प तिहारो,
 क्रमशः बंधन तजत पंथ पैहौ उजियारो ।
 मुक्तिमार्ग की प्रथम अवस्था जो यह पावै
 सो अधिकारी नर 'श्रोतः आपन्न' कहावै ।
 सब अपाय भय खोय सदा शुभ करत जायहै
 मंगलमय निर्वाण धाम सो अंत पायहै ।
 फेरि अवस्था है द्वितीय 'सकृदागामी' की;
 हटत तीन प्रतिबंध, लहति मति गति अति नीकी ।
 हिंसा औ आलस्य काम सो दूर करत है
 एक जन्म बस और ताहि पुनि धरन परत है ।

फेरि तीसरी दशा 'अनागामी' की पावत,
 तजि विचिकित्सा मोह 'पंच प्रतिबंध'॥ नसावत ।
 जनमत नहिं या कामलोक मेँ पुनि सो आई;
 ब्रह्मलोक में लहत जन्म यह लोक विहाई ।
 'अर्हत्' की पुनि परति अवस्था सब सोँ ऊपर;
 जन्म आदि को बंधन नहिं रहि जात लेश भर ।
 सब दुःखन सोँ परे, मुक्त माया सोँ सारी
 होत बुद्धगण आए या पद के अधिकारी ।

जैसे वा हिमशृङ्ग बीच बैठै जो बाँके
 छाँड़ि नील नभ और नाहिं कछु ऊपर ताके
 तैसे जो प्रतिबंध पाँच ये देत नसाई
 पहुँचि जात निर्वाणधाम के तट पै जाई ।
 नीचे ताके परे ताहि सुरगण सिहात सब;
 तीन लोक को प्रलय होय पै डिगै न सो तब ।
 सब जीवन है तासु, मृत्यु मरि जाति ताहि हित;
 ताके नहिं पुनि कर्म बनैहैं नए भवन नित ।
 चाहत सो कछु नाहिं, लहत पै सब कछु निश्चय;
 अहं भाव तजि देखत है सब जगत् आत्ममय ।
 यदि कोऊ यह कहै "नाश निर्वाण कहावत"
 बोलौ तासोँ "भूठ कहत तुम, भेद न पावत ।"

कहै कोउ यदि “जीबो ही निर्वाण कहावत”
 वासों तुम यह कहौ “व्यर्थ तुम भ्रम उपजावत ।”
 जाको कोऊ सुनि समुझै वा कहि समुझावै
 ऐसो है सो नाहिँ, व्यर्थ क्यों वाद बढ़ावै ?
 टिमटिमात जो जीवनदीपक को उजियारो
 ताके आगे ज्योति कहा, को जाननहारो ?
 लसत परे अति काल-जन्म-बंधन सेां जो है
 कैसो सो आनंद सकै कहि ऐसो को है ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

गहौ मार्ग यह—दुख न द्वेष सेाँ बढ़ि जग माहीँ,
 क्लेश राग सेाँ, धोखो इन्द्रिन सेाँ बढ़ि नाहीँ ।
 मुक्तिमार्ग पै गयो दूर बढ़ि सेा पुनीत नर
 जाने एकहु पाप दल्यो अपने को रुचिकर ।
 गहौ मार्ग यह—याही में सेा सुधास्रोत है
 जासेाँ सारी प्यास बुझति, श्रम दूर होत है;
 याही में वे अमरकुसुम हैं खिले मनोहर
 हासमयी गति करत जात जो बिछि पाँयन तर;
 याही में वे घरी परैं सुख की, हे भाई !
 परम मधुर जो, जात परैं नहिँ कतहुँ जनाई ।

शिक्षमाण ये धर्मरत्न सबसेँ बढ़ि जानौ
और सुधाहू सोँ इनको अति मधुर प्रमानौ—

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

दया के नाते करौ जनि जीवहिंसा, भ्रात !
छुद्र तें अति छुद्र ये जो जीव हैँ दरसात
करत पूरो भोग ऊँचे जात पंथ सुधारि
देहु तुम इनको न बाधा बीच ही में मारि ।

बनै जो कछु देहु औ तुम लेहु या जग माहिँ ।
लोभ सोँ छलबल सहित पै लेहु तुम कछु नाहिँ ।
देहु भूठी साखि ना, जनि करौ निंदा जानि ।
सत्य बोलौ, सत्य ही है शुद्धता की खानि ।

पियौ ना मद, देत बुद्धि नसाय जो हरि ज्ञान ।
शुद्ध जो मन कहा ताको सोमरस को पान ?
दीठि लाओ ना पराई नारि पै लहि घात,
करौ इंद्रिन को न अपने पाप में रत, भ्रात !

कपिलवस्तु में बसि पुरजन परिजन समाज लहि
 सारी निशि भगवान् करत उपदेश गए रहि ।
 काहू को वा रैन नीँद नयनन में नाहीँ
 ऐसे सब ह्वै गए मग्न प्रभुबचनन माहीँ !
 बोलि चुके जब बुद्ध भूप तब सम्मुख आयो,
 चीवर माथे लाय विनय सौं सीस नवायो ।
 बोल्यो “हे सुत !” सँभरि कह्यो पुनि यों “हे भगवन् !
 मोहू को लै लेहु ‘संघ’ में मानि तुच्छ जन ।”
 और सुन्दरी गोपा ह्वै आनंदमग्न तब
 बोली प्रभु सौं “हे मंगलमय ! राहुल को अब
 देहु दया करि दाय मानि याको अधिकारी,
 ‘उपसंपदा’* गहाय करौ प्रभु याहि सुखारी ।”
 या प्रकार सौं शाक्य राजकुल के तीनो जन
 धर्ममार्ग में करि प्रवेश ह्वै गए शांतमन ।

तथागत ने भाखि दीने धर्म के सब अंग ।
 पिता, माता, बंधु, बांधव, इष्ट मित्रन संग
 चाहिए व्यवहार कैसो कह्यो सब समझाय
 यों गृहस्थ उपासकन को दियो धर्म बताय ।
 छोरि बंधन सकै इन्द्रिन के न जो तत्काल,
 होयँ पाँव अशक्त जाके, चलै धीमी चाल ।

* बौद्ध लोग श्रमण या भिक्षु धर्म की दीक्षा को उपसंपदा कहते हैं ।

चलै संयम नियम सों यों दयाधर्म निबाहि
जायँ कल्मषहीन दिन सब, लगै पाप न ताहि ।

चलत जे या भाँति हैं कै शुद्ध औ गंभीर,
दयावान्, सुजान, श्रद्धावान् औ अति धीर,
आप से गुनि छोह जीवन पै सकल दरसाय,
धरत ते 'अष्टांगपथ' पै पाँव पहलो जाय ।

दुःख वा सुख होत है जो जीव को जग माहिँ
अशुभ वा शुभ कर्म को फल, और है कछु नाहिँ ।
स्वार्थ छाँड़ि गृहस्थ जेतो करत जग-उपकार
होत तेतो सुखी जनमत जबै दूजी बार ।

—

एक दिन प्रभु रहे यों ही वेणुवन दिशि जात;
लख्यो एक गृहस्थ ठाढ़ो न्हाय निर्मलगात,
जोरि कर नभ ओर नावत सीस बारंबार,
फेरि बंदन करत धरती को अनेक प्रकार,

पढ़त मुहँ सों कछुक अच्छत हाथ सों छितराय
घूमि चारो दिशा को पुनि सिर नवावत जाय ।
बुद्ध ने तब जाय तासु समीप पूछी बात
“रहे हौ सिर नाय क्यों या भाँति तुम, हे भ्रात ?”

कह्यो “पूजन करत हौ मैं नित्य उठि, भगवान् !
देव पितर मनाय चाहत आपनो कल्याण ।”
कह्यो जगदाराध्य “अच्छत क्यों रहे बगराय ?
दया प्रेम न क्यों पसारत सब जनन पै जाय ?

मातु पितु को मानि पूरव कढ़ति जहँ सों ज्योति;
गुरुहि दक्षिण मानि जहँ सों प्राप्ति निधि की होति ;
पुत्र पत्निहि मानि पश्चिम शांति जहँ द्युतिमान,
होत जहँ अनुराग के बिच दिवस को अवसान ;

बंधु बांधव, इष्ट मित्रन को उदीची मानि
भक्ति, श्रद्धा, प्रेम अपनो तुम पसारौ जानि ।
क्षुद्र जीवन पै दया तुम धरौ निज मन माहिँ ;
यहै पूजन अवनि चाहति, और यह सब नाहिँ ।

स्वर्ग में जो बसत हैं सब देव पितर महान्
रखौ तिनमें भक्ति, चाहिए नाहिँ और विधान ।
चलौगे या रीति पै जो गृही-जीवन माहिँ
होयगी रक्षा तुम्हारी, रहैगो भय नाहिँ ।”

शिक्षा याही भाँति ‘संघ’ को अपने दीनी ।
धर्मव्यवस्था प्रभु ने भिक्षुन के हित कीनी,

करत व्योम में जो विहार नाना विधि जाई
 जागे पंछिन सरिस विषयकोटरन बिहाई ।
 सिखै तिनहै* 'दशशील'^१ सात 'बोध्यंग'^२ बताए ;
 'ऋद्धिपाद'^३ के द्वार, 'पंचबल'^४ कहि समझाए ;
 औ 'विमोक्ष सोपान'^५ आठ सुंदर दरसाए ;

१ दशशील—हिंसा, स्तेन, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, प्रमाद, अप-
 राहभोजन, नृत्यगीतादि, मालागंधादि, उच्चासन
 शय्या और द्रव्यसंग्रह का त्याग ।

२ बोध्यंग—स्मृति, धर्मप्रविचय (पुण्य), वीर्य, प्रीति, पश्रब्धि,
 समाधि और अपेक्षा ।

३ ऋद्धिपाद—अर्थात् असामान्य क्षमता की प्राप्ति

४ पंचबल—श्रद्धाबल, समाधिबल, वीर्यबल, स्मृतिबल और प्रज्ञाबल ।

५ अष्टविमोक्षसोपान—(१) रूपभावना के कारण बाह्य जगत् में
 रूप दिखाई पड़ना (२) मन में रूप भावना न रहने पर भी
 बाह्य जगत् में रूप दिखाई पड़ना (३) न मन में रूपभावना
 रहना न बाह्य जगत् में रूप दिखाई पड़ना (४) रूपलोक अति-
 क्रमण कर अनंत आकाश की भावना करते हुए 'आकाशान-
 त्यायतन' में विहार (५) आकाशानंत्यायतन का अतिक्रमण
 कर अनंत विज्ञान की भावना करते हुए 'विज्ञानानंत्यायतन' में
 विहार (६) विज्ञानानंत्यायतन का अतिक्रमण कर 'अकिंचन'
 (कुछ नहीं) की भावना करते हुए अकिंचन्यायतन में विहार
 (७) अकिंचन्यायतन का अतिक्रमण कर नैवसंज्ञानैवासंज्ञा-
 यतन (ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं) की भावना करते हुए
 नैवसंज्ञानैवासंज्ञायतन में विहार (८) अंत में ज्ञान और ज्ञाता
 दोनों का निरोध कर 'संज्ञावेदयितृ' उपलब्ध करना ।

‘ध्यान चतुर्विध’^१ ‘तिनको व्याख्या सहित बुझाए—

जीव हेतु जो परम मधुर हैं अमृतहु सों बढ़ि,

जिनको लहि सो सकत द्वार भवसागर सों कढ़ि ।

‘भैत्री’, ‘करुणा’ और ‘उपेक्षा’ ‘मुदिता’^२ चारौ

अंग भावना के कहि बोले “इनको धारौ ।”

शिक्षमाण^३ दै रत्न अंत भिन्न को सारे

बोले ‘त्रिशरण’^४ गहौ, मार्ग पै चलौ हमारे ।”

भिन्न के आचार नियम हू सब निर्धारै,

रहैं राग औ विषय भोग सों कैसे न्यारे ।

रहन सहन औ खान पान, परिधान बताए ।

तिनके हित परिधेय तीन चीवर ठहराए—

‘अंतरवासक’ रहै एक, पुनि ताके ऊपर

धरैं ‘उत्तरासंग’ और ‘संधाति’ अंग पर ।

राखैं भिक्षापात्र संग में औ शयनासन

और अधिक जंजाल बढ़ावैं नाहिं भिन्नजन ।

या विधि श्रीभगवान् गए निज ‘संघ’ बनाई

जो अब लौं चलि जात जगत् की करत भलाई ।

१—आठ विमोक्ष सोपानों में से तीसरे से सातवें तक को चतुर्विध ध्यान कहते हैं ।

२—मुदिता = संतोष ।

३—मार्ग, श्रद्धा, बल आदि सब मिलकर सप्तत्रिंशच्छिक्षमाण धर्म कहलाते हैं ।

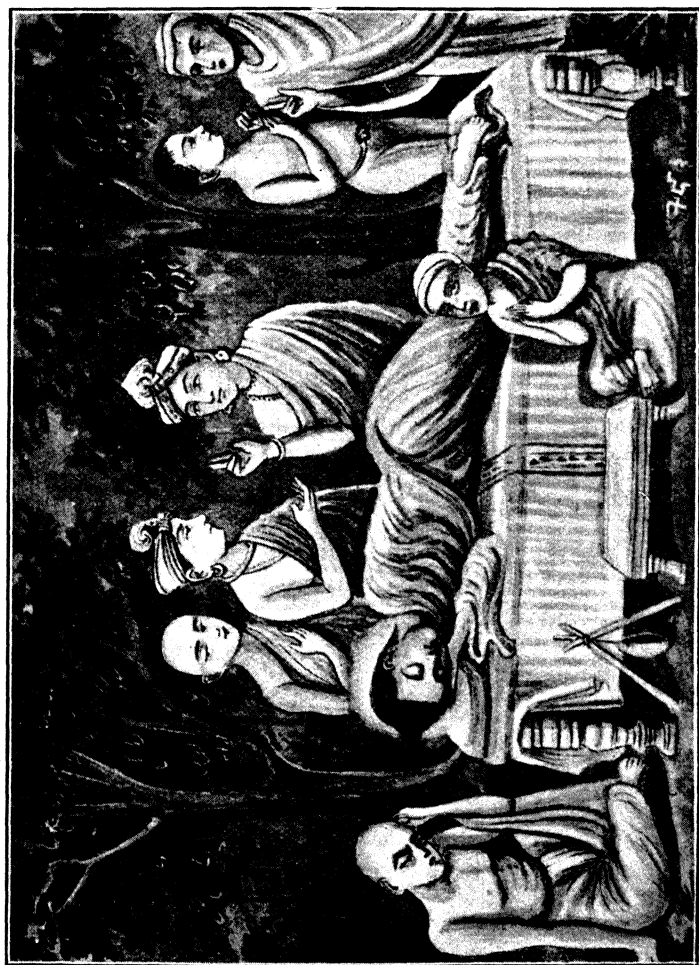
४—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाना ।

(२२८)

परिनिर्वाण

नाना देशन माहिँ आपनो 'संघ' बनावत
धूमि धूमि भगवान् रहे निज वचन सुनावत ।
कबहुँ राजगृह और कबहुँ वैशाली जाई,
कौशांबी औ श्रावस्ती मेँ कछु दिन छाई,
'चातुर्मास्य' विताय विविध उपदेश सुनावत,
भूले भटकन को सुंदर मारग पै लावत ।
अधिक काल पै श्रावस्ती ही माहिँ बितायो ।
जहाँ 'जेतवन' बीच धर्म बहु कहि समझायो ।
पैतालिस चौमासन लौं या धराधाम पर
प्रभु समझावत रहे धर्म के तत्त्व निरंतर,
जगी ज्योति जिनकी जग में ऐसी उजियारी
सब देशन को सूझि पर्यो पथ मंगलकारी;
ध्यावत जाको जग के आधे नर हिय धारे,
आलोकित हैं जाकी आभा सौं मत सारे ।
अंतकाल नियराय गयो जब एक दिवस तब
'पावा' में प्रभु जाय पधारे शिष्यन लै सब
'चुंद' नाम के कर्मकार के भवन कृपा करि ।
पायो भोजन दियो सामने जो वाने धरि ।
कुशीनार को गए तहाँ सौं हूँ पीड़ित जब
द्वै साखुन के बीच डारि शय्या पौढ़े तब ।

१—बौद्ध भिन्नु वर्षा या चौमासे भर एक ही स्थान पर रहते हैं ।



परम शांति सेाँ बोलि देत उत्तर जो माँगत
'परिनिर्वाण' पुनीत लह्यो भगवान् तथागत ।
मनुजन में रहि मनुज सरिस, शुभ मागे दिखाई
परम शून्यमय नित्य शांति में गए समाई ।

चरित भयो यह पूर्ण; कह्यो मैं जो कछु गाई
सो यह साहस मात्र भक्तिवश जानौ, भाई !
जानत थोरी बात ताहु पै कहन न जानत,
याते अपनी चूक आपही मैं अनुमानत ।
कहाँ तथागत-चरित, कहाँ लघु मति यह मेरी !
चाहौ याते क्षमा, दया मैं प्रभु की हेरी ।

बुद्ध शरणं गच्छामि
धर्म शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि ।
इति ।

